संमूर्च्छिम मनुष्यः आगमिक और पारंपरिक सत्य

– आचार्य यशोविजयसूरि

सूरिप्रेम स्वर्गारोहण अर्धशताब्दी
त्यागब्रह्म वर्ष

दिव्याशिष

परम पूज्य सिद्धांत महोदधि आचार्य
भगवंत श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा

परम पूज्य सकलसंघहितचिंतक आचार्य
भगवंत श्री भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराजा

शुभाशिष

परम पूज्य पूनाजिल्लाउद्धारक आचार्य
भगवंत श्री विश्वकल्याणसूरीश्वरजी महाराजा

संमूर्च्छिम मनुष्यः
आगमिक और पारंपरिक सत्य ...

(स्थानकवासी साधुमार्गी संप्रदाय के श्रीरामलालजी महाराज द्वारा
लिखित 'संमूर्च्छिम मनुष्य : आगमिक सत्य' नामक लेख की परीक्षा और समीक्षा)

आज्ञा – आशिष

परम पूज्य सिद्धांतदिवाकर, आगममर्मज्ञ
गच्छाधिपति आचार्य भगवंत
श्रीजयघोषसूरीश्वरजी महाराजा

संशोधक

परम पूज्य संघ–शासनकौशल्याधार आचार्य भगवंत
श्रीजयसुंदरसूरीश्वरजी महाराजा

आलेखक

आचार्य यशोविजयसूरि

प्रकाशक

श्री दिव्यदर्शन ट्रस्ट

३९, कलिकुंड सोसायटी, मफलीपुर चार रस्ता,
धोलका – ३८७८१०. (जि. अहमदाबाद) फोन : (०२७१४) २२५४८१, २२५७३८,२२५९८१.

संमूर्च्छिम मनुष्य : आगमिक और पारंपरिक सत्य

संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक परंपरा को पुष्टिदायक ऐसे आगमिक और तार्किक सबूतों से समृद्ध...

साथ में, संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक परंपरा के प्रति प्रश्नार्थचिह्न उपस्थित करने वाले तर्क एवं सबूतों की दृष्टांत-तर्क सहित रसपूर्ण समालोचना...

आवृत्ति : प्रथम
विक्रम संवत : २०७३
वीर संवत : २५४३

मूल्य : सत्यनिष्ठा
परंपरानिष्ठा
आगमनिष्ठा

टाइप सेटींग : श्री दिगेशभाई वी. शाह, मो. ९४२७३ १७५२९
मुद्रक : शिवकृपा ओफसेट, अहमदाबाद.
(यह पुस्तिका ज्ञाननिधि में से छपी है। अतः ज्ञाननिधि में
₹ ५०/- भर के गृहस्थ यह पुस्तक ले सकते हैं।)

प्राप्तिस्थान

श्री दिव्यदर्शन ट्रस्ट

३९, कलिकुंड सोसायटी, मफलीपुर चार रस्ता,
धोलका - ३८७८१०. (जि. अहमदाबाद) फोन : (०२७१४) २२५४८१, २२५७३८,२२५९८१.

मनोवत्सो युक्तिगवीं
मध्यस्थस्याऽनुधावति।
तामाकर्षति पुच्छेन
तुच्छाग्रहमनःकपिः ।।

युक्ति जहाँ सहजतया बहती हो
उसका अनुसरण करना वह
माध्यस्थ्य का चिह्न है।

आगमश्चोपपत्तिश्च
सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां
सद्भावप्रतिपत्तये ।।

अतीन्द्रिय पदार्थों की
वास्तविक प्रतिपत्ति के लिए
संपूर्ण दृष्टि का विकास आवश्यक।

अर्पण

उन संमूर्च्छिम मनुष्यों की आत्माओं को

जिनके प्रति की करुणा और कोमलता
इस सृजन में प्रबल प्रेरक रही है।
शायद,
उनका पुण्य ही इस सृजन में
समृद्धि का पूरक बना है....

प्रकाशकीय प्राक्कथन

संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना को ललकारता हुआ लेख थोड़े समय पहले प्रगट हुआ। साधुत्व की शोभा सर्व जीवों के प्रति मैत्री और उनकी अहिंसा में समाविष्ट है। स्थानकवासी साधुमार्गी संप्रदाय के श्रीरामलालजी महाराज द्वारा लिखित 'संमूर्च्छिम मनुष्य : आगमिक सत्य' नामक लेख असंख्य संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना और उसकी अनवस्था का जनक न बने तदर्थ, पूज्यपाद सुविशाल गच्छाधिपति **श्रीजयघोषसूरीश्वरजी** महाराजा की आज्ञा अनुसार पूज्य आ.श्रीयशोविजयसूरिजी ने विस्तृत-आगमिक सबूत, चोटदार तर्क एवं हृदयस्पर्शी दृष्टांतों से समृद्ध एक निबंध तैयार किया, जो किसी भी तटस्थ विद्वानों को संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक सत्य बाबतों का पूरक बनने में समर्थ है। इस निबंध से संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक एक स्थिर प्रकाश फैला है कि जो श्रीसंघ के लिए चिरकालीन लाभदायी साबित होगा। समस्त श्रीसंघ को उपकारक साबित हो तदर्थ गुजराती एवं हिन्दी दोनों भाषा में यह निबंध प्रकाशित हो रहा है।

पूज्य शास्त्रसंशोधक आचार्य भगवंत **श्रीमुनिचंद्रसूरीश्वरजी** महाराजा की प्रेरणा और आशीर्वाद इस कार्य में हमें सतत मिलते रहे हैं। पूज्यश्री ने प्रस्तावना लिख कर हमें उपकृत किया है। पूज्य आचार्य भगवंत **श्रीजयसुंदरसूरीश्वरजी** महाराजा की तर्कपूत और दृष्टियुत आगमपरिकर्मित प्रज्ञा ने इस निबंध को सर्वांगसुंदर बनाया है। साथ में पू. मुनिराज **श्रीभव्यसुंदरविजयजी,** पू. मुनिराज **श्रीजिनप्रेमविजयजी,** पू. मुनिराज **श्रीकरुणादृष्टिविजयजी,** पू. मुनिराज **श्रीमौर्यरत्नविजयजी** आदि विद्वान मुनिगण ने भी प्रस्तुत प्रबंध को पढ़ कर, सोच-विचार कर उपयोगी सूचन किए हैं। उन सब मुनिवरों के प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं। प्रस्तुत निबंध को पुस्तिका का स्वरूप देने में उसके मुद्रणादि में सहायक**श्रीदिगेशभाई, श्रीविशालभाई** वगैरह धन्यवाद के पात्र हैं। सकलसंघहितचिंतक वर्धमान तपोनिधि स्वर्गस्थ पूज्यपाद गुरुदेव श्रीमद् **विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी** महाराजा की दिव्यकृपा से हमारी संस्था को ऐसे लाभ सदैव मिलते रहे - वैसी मंगलकामना।

श्री दिव्यदर्शन ट्रस्ट की ओर से
कुमारपाल वी. शाह
आदि ट्रस्टीगण

पूज्यपाद गच्छाधिपति सिद्धांतदिवाकर आचार्यदेव श्रीजयघोषसूरीश्वरजी महाराजा के शुभाशिष

छद्मस्थ एवं जो अतिविशिष्ट ज्ञान से रहित हो उन्हें किसी भी शास्त्रसिद्धांत का या सुविहित परंपरा का खंडन या अपलाप नहीं करना चाहिए। तर्क से सच्ची वस्तु का भी खंडन हो सकता है और झूठी वस्तु का मंडन हो सकता है। परंतु वे दोनों बात प्रामाणिक साबित नहीं होती। अतः शास्त्र या सुविहित परंपरा को बदलने का या झूठा कहने का प्रयत्न ज्ञानी या विवेकीजन नहीं करता।

जो बात अनेक शास्त्रों में मिलती हो उस बात को छद्मस्थ जीव सर्वज्ञ वचन को प्रमाण मान कर स्वीकारे, वही योग्य है। अपने ज्ञान की अपेक्षा सर्वज्ञवचन की श्रद्धा अधिक महत्त्वपूर्ण है। सर्वज्ञ का ज्ञान छद्मस्थ को सर्वांश में नहीं होता तथापि सर्वांश में श्रद्धा रखनी वह सर्वज्ञत्व के स्वीकार का स्वरूप है। अतः सिद्धांत की बातें कभी-कबार हमें तर्कसंगत न लगे तो भी प्रभु, प्रभुवचन एवं शास्त्रों को सर्वज्ञवचन के रूप में स्वीकार कर श्रद्धा से सत्य मानना वह प्रभु के प्रति समर्पणभाव है।

श्रद्धा सम्यक्त्व है। हमें मन में न बैठती वस्तु को 'झूठी, असंगत, परंपरारहित है' ऐसा बता कर उसे अप्रमाण मानना वाजिब नहीं। सातिशय ज्ञान के प्रमाण की अपेक्षा छद्मस्थ के ज्ञान का प्रमाण और अनुभव अत्यंत अल्प होता है। अतः प्रस्तुत चर्चा अल्पज्ञ के लिए अस्थान पर है। एवं शास्त्र में उल्लिखित वस्तु का अपलाप अत्यंत अनुचित है। यदि पूर्व के शास्त्रकार और ज्ञानी की अपेक्षा अपने ज्ञान की महत्ता, अहंकार व्यक्त हो तो उसे न करें।

प्रस्तुत लेख लिखने वाले शास्त्रसमर्पित और शास्त्र के ज्ञानी अनुभवी हैं। अतः लेख को प्रामाणिक और मार्मिक स्वीकारें।

✍ **विजय जयघोषसूरि**

२०७३, अश्विन शुक्ल अष्टमी

साबरमती, अहमदाबाद

प्रस्तावना

श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः

श्रीसिद्धि-भद्र-ॐकार-अरविंद-यशोविजयसूरिभ्यो नमः

✍ विजय मुनिचन्द्रसूरि

आवकार

आगमसिद्ध और परंपरा से प्रसिद्ध बाबतों का खंडन जब जोर-शोर से किया जा रहा हो तब उसका शास्त्राधार पूर्वक खंडन कर के आगम एवं परंपरामान्य सिद्धांतों का समर्थन करना आवश्यक बन जाता है।

थोड़े वर्ष पूर्व विद्युत को अचित्त मनने और मनाने का प्रचार हुआ था तब विद्वद्वर्य आ. श्रीयशोविजयसूरि मा.सा.ने 'विद्युतप्रकाश : सजीव या निर्जीव?' पुस्तक द्वारा उसका सचोट प्रतिकार किया था।

वर्तमान में थोड़े समय से संमूर्च्छिम जीवों की कायिक विराधना नहीं होती वैसा प्रचार शुरू हुआ है, तब पुनः ऐसे सचोट प्रतिकार की आवश्यकता खड़ी हुई।

स्थानकवासी साधुमार्गी संप्रदाय के आ. रामलालजी म. द्वारा पेश किए गए प्रत्येक विचारबिंदुओं का आगमादि शास्त्रपाठ एवं तर्क द्वारा समुचित उत्तर दिया गया है। एक भ्रम का निरसन किया गया है।

तदर्थ विद्वद्वर्य आ. श्री यशोविजयसूरि म. सकल संघ के धन्यवाद के पात्र हैं।

आ. रामलालजी की बात मानी जाए तो 'मल-मूत्रादि को स्थंडिलभूमि में परठने से उसके सूख जाने से जीवविराधना होगी और गटर में परठने से विराधना नहीं होगी' - ऐसी भ्रमोत्पादक बाबतों का व्यवस्थित निरसन करने के बदल लेखकश्री को खूब खूब धन्यवाद

अश्विन शुक्ल द्वितीय

वि.स. २०७३

जैन उपाश्रय, कृष्णनगर, अमदाबाद

संशोधकीय वक्तव्य

विवेक में सत्य का अभिषेक

दिनांक : भाद्रपद कृष्ण १३

जैनशासन विषयक, यदि सदसत् का अनेकांतगर्भित विवेक न हो तो मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान होने की बात विशेषावश्यकभाष्य वगैरह में निर्दिष्ट है। जैन शास्त्रों में कोई विषय उपलब्ध न हो अतः उसे न मानना, उपलब्ध हो तभी मान्य करना – ऐसी नीति विवेकी विद्वान धारण नहीं करते।

श्री चैत्यवंदन महाभाष्य (गा. ७८७) में कहा है कि – 'पूर्व के महापुरुषों के मार्ग पर चलने से, सत्यमार्ग से भ्रष्ट न होने द्वारा हमारी सुरक्षा होती है। भावशुद्धि का लाभ होता है। मिथ्या कुविकल्पों से मुक्ति मिलती है।'

तदुपरांत शास्त्रों की प्रसिद्ध सूक्ति है कि रज्जु (या टायर) के टुकडे में अंधेरे में सर्प की बुद्धि से उसे डंडे मारने वाले को पापबंध होता है। किन्तु शुद्ध ईर्यासमिति का, नीचे देख कर अणिशुद्ध पालन करते समय साधु के पैर के नीचे कोई कुलिंगी (बेइन्द्रिय वगैरह) तथाभवितव्यता से कुचल कर मर जाए – तथापि उसे सूक्ष्म भी कर्मबंध नहीं होता। अंततो गत्वा यतना के परिणाम मुख्य हैं।

जैन शास्त्रों में अनेकत्र दशवैकालिकादि सूत्रों में छजीवनिकाय की रक्षा की प्रेरणा–उपदेश का बहुलतया वर्णन किया गया ही है। उसमें कहीं भी संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय की विराधना नहीं होती–वैसा नहीं बताया है। जीव हो या न हो, दिखे या न दिखे, प्रतिलेखन–प्रमार्जन की यतना के पालन से लाभ ही लाभ है।

तथापि, 'शास्त्र में कहीं भी प्रायश्चित्त नहीं बताया है' – ऐसी निराधार बातें लिख कर 'संमूर्च्छिमविराधना नहीं होती' – ऐसा प्रतिपादन करना क़तई उचित नहीं।

आचार्य श्रीयशोविजयसूरिजी ने अनेक शास्त्रों के आधार पर जो प्रतिवाद किया है उसे गंभीरता से समझ कर सर्व जन भ्रम में से बाहर आए यही शुभकामना ।

✍ **जयसुंदरसूरि**

अनुक्रमणिका

- अभिनव मान्यता और सैद्धांतिक मान्यता के बीच की भेदरेखा २
- पंचम समिति का अंगुलीनिर्देश ३
- पारिष्ठापनिका समिति से ही संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना की सिद्धि . ४
- संपूर्ण आगमों की अनुपलब्धि ६
- संमूर्च्छिम मनुष्य की परंपरा सुविहित एवं प्राचीन ८
- चारों संप्रदायों की प्रस्तुत परंपरा में सम्मति ९
- प्रस्तुत परंपरा अभिनव होने में बाधक १३
- प्रज्ञापना सूत्र का तात्पर्यार्थ १४
- शरीर में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति अशक्य – पन्नवणा सूत्र का गर्भितार्थ .. १५
- योनि विषयक विचारणा १७
- विवृतयोनि के कथन से परंपरा की सिद्धि १७
- विवृतयोनि की संगति, शरीर के भीतर अनुत्पत्ति पक्ष में २०
- शरीर के भीतर उत्पत्ति मानने में अनिष्ट आपत्ति २२
- उच्चारादि उच्चारत्व रूप में नहीं, अशुचित्वरूप में उत्पत्तिस्थान २७
- ठाणांग सूत्र के संदर्भ से शरीर से बाहर निकली अशुचि ही अस्वाध्याय २८
- शरीर के बाहर रहे हुए मलादि का ही अशुचितया व्यवहार ३१
- स्त्री–पुंसंयोग की स्पष्टता ३४
- संमूर्च्छिम मनुष्य शरीर के बाहर : भगवतीसूत्र ३७
- जीवाभिगम संग्रहणी प्रकरण का संदर्भ ३९
- पन्नवणा का तात्पर्यार्थ : शरीर के बाहर ही संमूर्च्छिम की उत्पत्ति ४१
- पंचेन्द्रिय होने पर भी संमूर्च्छिम मनुष्य हिंस्य क्यों नहीं? ४२
- निशीथसूत्र के अर्थघटन की दो परंपरा ४६
- अन्यान्य संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में निशीथसूत्र का दोहन ४७
- निशीथसूत्र का तारण ५१
- निशीथसूत्र के प्रस्तुत सूत्र के अर्थघटन विषयक अन्य प्राचीन परंपरा..... ५२
- निशीथसूत्र के भिन्न–भिन्न विवेचन ५३
- संमूर्च्छिम मनुष्य की परंपरा को सदिओं प्राचीन सिद्ध करता हुआ स्पष्ट उल्लेख ।. ५८
- संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना निशीथसूत्रसम्मत ६०
- मल–मूत्रादि का शीघ्रतया सूख जाना आवश्यक : निशीथचूर्णि..... ६०

- घटीमात्रक सूत्र का स्पष्टीकरण ६२
- बृहत्कल्पसूत्र के आधार पर रहस्योद्घाटन ६३
- संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने की अनेकविध यतनाएँ ६६
- आचारांग सूत्र का गर्भितार्थ ६९
- आचारांग सूत्र का नवनीत परोसते विचारमंथन ७०
- पादलेखनिका द्वारा 'गलत मान्यता' का अवलेखन ७१
- आचारांग सूत्र का पाठ बाधक नहीं, प्रत्युत साधक ७३
- तीन-तीन मल्लक रखने की बात की स्पष्टता ७४
- श्लेष्ममल्लक से संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना संभवित होने की सिद्धि ७६
- श्लेष्म मल्लक की बात से परंपरा की प्रबल पुष्टि ७९
- रामलालजी महाराज के विधान से ही परंपरा को पुष्टि ८०
- मृतदेह की बात का विश्लेषण ८१
- मात्रक को स्थापित रखने के पीछे परंपरा की प्रसिद्धि ८२
- संमूर्च्छिम मनुष्य योनिध्वंस विचारणा ८२
- संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना अवश्यंभावी ८५
- कृमि विचार समीक्षा ८८
- संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने हेतु अन्य यतना ८९
- आचमनयतना ९०
- क्षारादि यतना का हार्द ९१
- उष्णादि योनि वाले तर्क की समालोचना ९२
- मोक प्रतिमा से परंपरा की ही सिद्धि ९६
- संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना होती है : तथ्य ९७
- संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना में प्रायश्चित्त का उपदेश ९९
- व्यवहार सूत्र में प्रायश्चित्त का उल्लेख १००
- बृहत्कल्पसूत्र में प्रायश्चित्त प्रदर्शन १००
- निशीथसूत्रभाष्य के आधार पर प्रायश्चित्त प्रतिपादन १०१
- आगमिक संदर्भों से सिद्ध होने वाला तथ्य १०३
- अवधातव्यम् १०४
- प्राचीन परंपरा को ओर एक सलामी १०४
- रामलालजी महाराज की परंपरा क्या थी? १०६
- प्राचीन प्रामाणिक परंपरा का अपलाप न करें १०७
- उपसंहार १०७

ध्यातव्य

संमूर्च्छिम मनुष्य अपर्याप्त बादर त्रस जीव हैं, कि जो अपने लिए चर्मचक्षु से ग्राह्य नहीं। उनकी उत्पत्ति, स्थिति वगैरह सब कुछ हमे प्रभुवचन के अनुसार स्वीकार्य है। अर्थात् वह आज्ञाग्राह्य पदार्थ है। उसमें तर्क वगैरह को मुख्यतया स्थान नहीं हो सकता, यदि तर्कादि यादृच्छिक रूप में प्रवृत्त हो। आगमिक-आज्ञाग्राह्य पदार्थ को समुचित रूप में समझाने के लिए योग्य तर्क का आश्रय लेने में अनौचित्य नहीं है। अत एव आज्ञाग्राह्य पदार्थ में तर्क का व्यापार वहीं तक उचित गिना जा सकता है, जहाँ तक वह जिनवचनसापेक्ष हो। वास्तव में तो, आगम का विरोध न आए उस तरह ऊहापोह करना वही तर्क का लक्षण है, क्योंकि कहा गया है कि –

आगमस्याऽविरोधेन, ऊहनं तर्क उच्यते। (**अमृतनादोपनिषत्**-१७)

प्रस्तुत प्रबंध में आज्ञाग्राह्य संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक आगमिक परंपरा को सम्यक् रूप में समझाने के लिए ही तर्क वगैरह का सहारा लिया है, न कि उसे स्वतंत्र रूप में सिद्ध करने के लिए। इसका कारण यह है कि अतीन्द्रिय पदार्थों की पारमार्थिक समझ पाने के लिए आगम और तर्क स्वरूप दोनों प्रकार की चक्षु अर्थात् संपूर्ण दृष्टि का होना आवश्यक है। इस बात के लिए **अध्यात्मउपनिषत्** का निम्नोक्त श्लोक स्मर्तव्य है –

आगमश्चोपपत्तिश्च संपूर्णं दृष्टिलक्षणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥१/९॥

प्रारंभ से ही जिस पदार्थ की सिद्धि एकमात्र आगम से ही शक्य हो वैसे आगमवाद के विषय को यानी कि आज्ञाग्राह्य पदार्थ को भी आगमानुसारी हेतु से ग्राह्य बता कर हेतुवाद का विषय बना सकते हैं – वैसा **महोपाध्यायजी** महाराज ने **स्याद्वादकल्पलता** के दूसरे स्तबक में बताया है। ये रहे उनके शब्द :– *यद्यपि अतीन्द्रियार्थे पूर्वम् आगमस्य प्रमाणान्तराऽनधिगतवस्तुप्रतिपादकत्वेन अहेतुवादत्वम्, तथापि अग्रे तदुपजीव्य प्रमाणप्रवृत्तौ हेतुवादत्वेऽपि न व्यवस्थाऽनुपपत्तिः, आद्यदशापेक्षयैव व्यवस्थाभिधानात्। (शा.वा.समु. २/२३ वृत्ति)*

धर्मास्तिकाय वगैरह आज्ञाग्राह्य पदार्थ को संमतितर्कादि दर्शनशास्त्रों में हेतु द्वारा सिद्ध करने का प्रयास अत एव उचित गिना गया है। परंतु धर्मास्तिकाय आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के खंडन के लिए तर्क–हेतु–अनुमान वगैरह का उपयोग अवश्य निंदनीय ही बनता है।

संक्षेप में, आगमिक पदार्थों के पीछे पीछे युक्ति का अनुसरण मान्य है। एवं उस युक्ति के पीछे–पीछे अपने मन का अनुसरण उचित है। यही बात **ज्ञानसार** में इस तरह बताई है:–

मनोवत्सो युक्तिगवीं मध्यस्थस्याऽनुधावति।
तामाकर्षति पुच्छेन तुच्छाग्रहमनःकपिः ॥१६/२॥

इसलिए, अत्र प्रदर्शित तर्क और आगम मूल परंपरा कि जो *आज्ञाग्राह्य है – उसे केन्द्र में रख कर पेश किए गए हैं। उसका* मूल्यांकन भी तथैव ही कर्तव्य है। प्राज्ञपुरुषों को बिनती करता हूँ

कि अत्र प्रदर्शित तर्कों के खंडन में या शास्त्रपाठों का अन्यतया अर्थघटन करने में प्रज्ञा की सफलता नहीं है। वैसे प्रयास से उस मूलभूत आज्ञाग्राह्य स्वतःसिद्ध पदार्थ का बाल भी बांका नहीं होने वाला। सूर्य की और फेंकी हुई धूल, सूर्य को नहीं परंतु अपनी आँखों को ही नुक़सान पहुँचाती है। अतः यहाँ प्रदर्शित तर्क और शास्त्रपाठ के मर्मग्राही बनने द्वारा सत्य का पूजारी बनना अधिक उचित रहेगा... आगमिक तथ्यों से विपरीत दिशा में युक्ति का प्रयोग अनर्थकारी बनता है। इसीलिए यदि अमुक आगमिक–पारंपरिक पदार्थ अपने दिमाग में बैठता न हो तो – 'मेरी बुद्धि अल्प है, विशिष्ट ज्ञानी पुरुष का विरह है, विषय गहन–गूढ है...' इत्यादि विचारों के द्वारा अपने सम्यक्त्व को टिकाने की बात शास्त्रकारों ने की है (देखिए **ध्यानशतक–४७**), परंतु तत् तत् आगमिक पदार्थों के खंडन को लेशमात्र समुचित नहीं गिना है।

सुस्वागतम् ! परम पावन जिनाज्ञारूपी शुद्ध वस्त्र पहन कर सत्य की पूजा के लिए प्रस्तुत ग्रंथमंदिर में पधारिए...

***

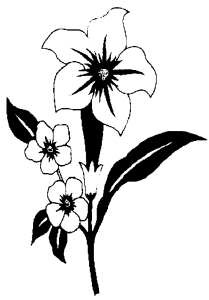

।। णमो त्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।।

संमूर्च्छिम मनुष्यः आगमिक और पारंपरिक सत्य

अविच्छिन्न रूप से चली आ रही संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक आगमिक परंपरा की ओर प्रश्नार्थचिह्न खड़ा करता हुआ स्थानकवासी, साधुमार्गी संप्रदाय के पू. **श्रीरामलालजी** महाराज का लेख – 'संमूर्च्छिम मनुष्य : आगमिक सत्य' उनकी ओर से ही मुझे भेजा हुआ मेरे पढ़ने में आया। पूज्यों की कृपा से हमारा आगमों के साथ तो अनेक सालों का पुराना नाता है। अतः इन आगमों के कुछएक प्रमाण पेश कर के – 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना हमारी कायिक प्रवृत्ति से शक्य नहीं' – ऐसे मतलब की प्ररूपणा उनके लेख द्वारा ज्ञात हुई तब हृदय को भारी चोट लगी। पहले तो इस लेख की उपेक्षा करना ही वाजिब लगा। परंतु दिन-ब-दिन संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक परंपरा को पुष्ट करते हुए आगमिक सबूत हृदय और मन में उभरते रहे। उसी दौरान हमारे पूज्यपाद सुविशालगच्छाधिपति सिद्धांतदिवाकर आगममर्मज्ञ आचार्य भगवंत **श्रीजयघोषसूरीश्वरजी** महाराजा की पत्र द्वारा सूचना मिली कि इस लेख के विषय में तटस्थतया ऊहापोह करने से जो भी नवनीत मिले उसे श्रीसंघ को अर्पण करना आवश्यक है। पूज्य गच्छाधिपतिश्री की सूचना का सहर्ष स्वीकार कर के आगममंथन प्रारंभ किया... भीतर में उमड़ रहे आगमिक प्रमाणों को शब्ददेह देना निश्चित किया।

अभिनव मान्यता और सैद्धांतिक मान्यता के बीच की भेदरेखा

सैद्धांतिक परंपरा :

अद्यावधि अविराम चली आ रही सैद्धांतिक परंपरा यह है कि: संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति गर्भज मनुष्यों के शरीर में से बाहर निकली हुई शास्त्रनिर्दिष्ट अशुचिओं में अंतर्मुहूर्त्त पश्चात् होती है। (देखिए पृष्ठ-१२) तथा संमूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना - परितापना वगैरह हमारी कायिक प्रवृत्ति के द्वारा हो सकती है। अत एव उनकी रक्षा हेतु सर्वसावद्यत्यागी श्रमण-श्रमणी भगवंतों को उद्युक्त रहना चाहिए। इस विषयक शतशः यतनाएँ श्रमण-श्रमणीवर्ग में प्रचलित हैं।

श्रीरामलालजी म. की मान्यता :

इस परंपरा के सामने प्रश्नार्थचिह्न उठा कर रामलालजी महाराज की अभिनव मान्यता यह है कि : संमूर्च्छिम मनुष्यों की हिंसा, परितापना वगैरह का होना हमारी कायिक प्रवृत्ति से संभवित नहीं। इस अभिनव मान्यता की पुष्टि के लिए उन्होंने ओर एक नई बात भी स्वीकृत कर ली कि संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति शरीर से बाहर निकले हुए रक्तादि में ही नहीं, अपितु शरीर के भीतर रहे हुए रक्त आदि में भी अविच्छिन्न रूप से चलती ही रहती है। (उनके लेख के लिए देखिए : परिशिष्ट-४)

इस तरह सैद्धांतिक और अभिनव दोनों प्रकार की मान्यता की स्पष्टता के पश्चात् अब हम आगम एवं आगमतुल्य ही महत्त्व वाले एवं प्रमाणभूत ऐसे अन्य ग्रंथों के आधार पर इस बाबत पर तंदुरस्त विचारणा में आगे बढ़ें, और इस दोहन से मिला हुआ सत्य का नवनीत अनेक भ्रमणाओं का निरसन कर के सत्यपथ का हमें दिग्दर्शन कराए।

❀ पंचम समिति का अंगुलीनिर्देश

"मनुष्य के शरीर में निरंतर संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति चलती ही रहती है और हमारी कायिक क्रियाओं के द्वारा वे संमूर्च्छिम मनुष्य वध्य तो नहीं, प्रत्युत उनको परितापना भी नहीं पहुँचती" – ऐसी अभिनव मान्यता तो समस्त [१] प्रवचन की माता स्वरूप अनर्घ्य स्थान जिसे प्राप्त है वैसी पारिष्ठापनिका नामक पंचम समिति पर कुठाराघात करने वाली ज्ञात होती है। संमूर्च्छिम जीवों की विराधना से बचने के लिए तो पारिष्ठापनिका समिति का अपना निजी महत्त्व प्रत्येक श्रमण-श्रमणी की दिनचर्या में प्रस्थापित हुआ है।

ठाणांगसूत्र में कहा है कि –

" पंच समितीतो पन्नत्ताओ, तं जहा –

(१) इरियासमिती, (२) भासासमिती, (३) एसणासमिती, (४) आयाण-भंड-मत्त-णिक्खेवणासमिती, (५) उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिठावणियासमिती।"

(स्था.सू.अध्य.५/उ.३/सू.४५७)

---

(१) **समवायांग सूत्र** में बताया है कि :-

"अट्ठ पवयणमाताओ पण्णत्ताओ, तं जहा – इरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिई, आयाण-भंडनिक्खेवणासमिई, उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमिई, मणगुत्ती, वतिगुत्ती, कायगुत्ती।" (स्थानक-८, सूत्र-८) समिति-गुप्ति प्रवचनमाता क्यों है? उस बात को प्रस्थापित करते हुए वृत्तिकार **श्रीअभयदेवसूरि** महाराज बताते हैं कि : *"प्रवचनस्य = द्वादशाङ्गस्य तदाधारस्य वा सङ्घस्य मातर इव = जनन्य इव प्रवचनमातरः ईर्यासमित्यादयः, द्वादशाङ्गं हि ता आश्रित्य साक्षात् प्रसङ्गतो वा प्रवर्त्तते, भवति च यतो यत् प्रवर्त्तते तस्य तदाश्रित्य मातृकल्पतेति। सङ्घपक्षे तु यथा शिशुर्मातरममुञ्चन्नात्मलाभं लभते, एवं सङ्घस्ता अमुञ्चन् सङ्घत्वं लभते, नान्यथेतीर्यासमित्यादीनां प्रवचनमातृतेति।"*

समर्थवृत्तिकार **श्रीअभयदेवसूरि** महाराज **वृत्ति** में बताते हैं कि – *''उच्चार-प्रश्रवण-खेल-सिंघान-जल्लानां पारिष्ठापनिका = त्यागस्तत्र समितिर्या तथेति। तत्रोच्चारः = पुरीषम्, प्रश्रवणं = मूत्रम्, खेलः = श्लेष्मा, जल्लो = मलः, सिंघानो = नासिकोद्भवः श्लेष्मा।''*

❁ पारिष्ठापनिका समिति से ही संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना की सिद्धि

साधुजीवन में पारिष्ठापनिका के योग्य ऐसी ढेर सारी उपधि-वस्तुएँ समाविष्ट होती है। उनमें श्रमण के मृतदेह की पारिष्ठापनिका को तो महापारिष्ठापनिका के नाम से नवाजा गया है। अतिरिक्त आहारादि की भी पारिष्ठापनिका उपदिष्ट है। तथापि उन सब आहार-मृतदेह वगैरह की पारिष्ठापनिका को छोड़ कर मुख्यतया जो संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति के प्रायोग्यस्थान हैं, तदुपरांत प्रतिदिन बारंबार जिसकी पारिष्ठापनिका करनी है वैसी उच्चार-प्रश्रवण(=मल-मूत्र) जैसी ही परिष्ठाप्य वस्तु का **ठाणांगसूत्र** में पंचम समिति के नाम में उल्लेखपूर्वक किया गया ग्रहण किस बात की ओर अंगुलीनिर्देश करता है? अनुप्रेक्षा की क्षणों में गंभीरता एवं गहराई से यह बात विचारणीय है।

क्या तीर्थंकर परमात्मा संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना प्रति श्रमणों को जागृत रहने का उपदेश देते हैं वैसा नहीं लगता ? शहरीकरण और उद्योगीकरण के वर्तमान समय में संमूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना से बचने की पारिष्ठापनिका समिति श्रमण-श्रमणीवर्ग के लिए कठिन और दुराराध्य बनी है। ऐसे समय में रामलालजी महाराज की इस अभिनव मान्यता के अनुसार संमूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना ही अशक्य होना यदि मान लिया जाए तो पारिष्ठापनिका समिति अत्यंत आसान एवं सुकर बन जाएगी। १०२४ वें विकल्प वाली स्थंडिलभूमि-निर्दोष

भूमि की खोज भी अनावश्यक साबित होगी।

परमात्मा ने स्वयं पारिष्ठापनिका समिति की जो महत्ता प्रस्थापित की है वह हमें बहुत महत्त्वपूर्ण संदेश देती है। अन्य सर्व समिति को छोड़ कर इस समिति को ही उसके उच्चार-प्रस्रवणादि विषय दर्शाने पूर्वक क्यों उल्लिखित की गई? इस प्रयोजन की तलाश तो अनुप्रेक्षा का एक अनूठा विषय बन सकती है।

हाँ, पारिष्ठापनिका समिति में, उच्चारादि के परिष्ठापन के अवसर पर आपात-संलोक आदि युक्त भूमि का वर्जन ... इत्यादि बाबत मुख्यतया शास्त्रों में प्रतिपादित की गई हैं। यह एक हक़ीक़त होने पर भी यहाँ मुख्यतया यही बात बताने का हमारा आशय है कि आपात-संलोक आदि भूमि का वर्जन ... इत्यादि बाबत विधि स्वरूप है, जैसे कि एषणासमिति में 'गोचरी जाते समय संभ्रम न रखना...' इत्यादि बाबत। परंतु मुख्य प्रयोजन क्या है? तथा उद्वरित = अधिक आहारादि की पारिष्ठापनिका में, शरीर के मैल वगैरह की अपेक्षा अत्यधिक यतनाओं की सावधानी आवश्यक होने पर भी पारिष्ठापनिका समिति का उल्लेख करते वक़्त *'उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल'* - इन सबका ही ग्रहण क्यों ? जो शारीरिक मल हैं, जिनका सीधा संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना के साथ संबंध है, उनका ही ग्रहण क्या सूचित करता है? उसकी तटस्थ विचारणा आवश्यक है। आगंतुक त्रस-द्वीन्द्रिय वगैरह जीवों की विराधना की बात तो आहारादि में भी लागु पड़ती ही है, तथापि उनका ग्रहण न कर के संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना जिसमें संभवित है सिर्फ वैसी शारीरिक बहिर्निःसृत अशुचिओं का ही ग्रहण क्यों ? सूक्ष्म और तात्पर्यग्राही दृष्टि से की गई विचारणा से अंततोगत्वा ठाणांग सूत्रकार का संमूर्च्छिम मनुष्य की यतना विषयक आशय स्पष्टतया उभर आता है।

उच्चार-प्रस्रवण वगैरह में, शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् अंतर्मुहूर्त्त के बाद (देखिए पृष्ठ-१२) संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। एवं उनकी विराधना से बचने के लिए, अल्पकाल में वे सूख जाए, विपरिणत हो जाए उस तरह उनकी पारिष्ठापनिका आवश्यक है। उस प्रकार का परिष्ठापन, काल के पसार होने के साथ अत्यंत मुश्किलभरा बन रहा है। अत एव उसमें अत्यंत यतनावंत रहने का उपदेश परमात्मा के उस वचन में से हमें मिलता है।

❁ संपूर्ण आगमों की अनुपलब्धि

अर्थ की अपेक्षा परमात्मा द्वारा उपदिष्ट (अत्थागमे) और सूत्र की अपेक्षा गणधर द्वारा गुम्फित (सुत्तागमे) ऐसे आगम, उनके यथोक्त प्रमाण (= नाप-ग्रंथकद) के साथ वर्तमान में अनुपलब्ध हो, तब वर्तमान में उपलब्ध अतिलघुकद के आगमों में स्पष्टतया निर्देश न मिलने मात्र से प्राचीन और अविच्छिन्न परंपरा को आगमअमान्य स्थापित करना हरगिज़ उचित नहीं है। वह भी तब कि जब उस परंपरा की पुष्टि करने वाले साक्षात् एवं परोक्ष अनेक विधान तो आगमों में से मिलते ही हो। संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक परंपरा तो संमूर्च्छिम मनुष्यों की अहिंसा के पालनार्थ जैनशासन की अपनी महत्त्वपूर्ण प्रथा है। इस प्रथा पर कुठाराघात करना तो असंख्य संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्यों की हिंसा में फलित होता है। पूर्णतया अनुपलब्ध ऐसे आगमों में (= अंगसूत्रों में) संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक जो भी पाठ मिलते हैं उससे कईगुना सविशेष और स्पष्ट उल्लेख विच्छिन्न आगमखंडों मे अवश्य हो सकते हैं।

इस बाबत की साक्षी देने वाला पाठ है, **पन्नवणासूत्र** का संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थानों का परिचय कराने वाला यह पाठ :-

से किं तं मणुस्सा ? मणुस्सा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा - संमुच्छिम-

मणुस्सा य गब्भवक्कंतियमणुस्सा य।

से किं तं संमुच्छिममणुस्सा ?

''कहि णं भन्ते ! संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति ? गोयमा ! अंतो मणुस्सखित्ते पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अंतरदीवएसु, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणएसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थी-पुरिससंजोएसु वा (गामणिद्धमणेसु वा) नगरणिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु, एत्थ णं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति, अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए असन्नी मिच्छदिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति। से तं संमुच्छिममणुस्सा ।''
(प्रज्ञा.सू.पद-१ सू.३७)

संपूर्ण विचारधारा का केन्द्र बनने वाला यह सूत्र अत्यंत ध्यानपूर्वक स्मृतिपथ में प्रतिष्ठित करने जैसा है।

सबसे पहले ध्यानपात्र बात इस पाठ में यह है कि :- संमूर्च्छिम मनुष्य क्या है? - इस प्रश्न के जवाब में समूर्च्छिम मनुष्यों के स्वरूप का वर्णन करता हुआ पाठ पेश करने के बजाय ***'कहि णं भंते !...'*** ऐसा संमूर्च्छिम को संलग्न एक नया प्रश्न उपस्थापित किया गया है। इस बात की संगति स्पष्टतया यूँ ही माननी रही कि संमूर्च्छिम मनुष्यों के वर्णन के अवसर पर प्रज्ञापना सूत्रकार पूज्य **श्रीश्यामाचार्यजी** ने अन्य अंगआगम-अंतर्गत पाठ ही जवाब के रूप में पेश कर दिया है, कि जो पाठ अपने वचन को प्रभुवचनतुल्य प्रमाणभूत साबित करता है। **प्रज्ञापना सूत्र** के वृत्तिकार **श्रीमलयगिरिसूरि** महाराज के शब्दों में यह बात देखें :-

''अत्रापि संमूर्च्छिममनुष्यविषये प्रवचनबहुमानतः शिष्याणामपि च साक्षाद् भगवतेदमुक्तमिति बहुमानोत्पादनार्थमङ्गान्तर्गतमालापकं पठति

'कहि णं भन्ते' इत्यादि । सुगमम् ।''

अर्थात् प्रवचन विषयक बहुमान से और अपने कथन के प्रति शिष्यों में भी 'यह बात तो साक्षात् भगवान ने बताई है' – वैसी श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए **अंगअंतर्गत आलापक** को संमूर्च्छिम मनुष्य की वक्तव्यता में पेश करते हैं।[१]

यहाँ उल्लेखनीय बाबत यह है कि श्रीमलयगिरि महाराज के वचन से और पूर्वापर संदर्भ से प्रस्तुत प्रज्ञापना सूत्र का ***'कहि णं'*** वाला पाठ अंगअंतर्गत है – वैसा तो वृत्ति से ही निश्चित हो चुका है। जब कि वर्तमान काल में उपलब्ध अंगआगमों में ऐसा या ऐसे प्रकार का ओर कोई विस्तृत पाठ ज्ञात नहीं होता। संदेश स्पष्ट है – प्रवचन रूपी सिंधु में से हमारे पास बिंदुमात्र बचा है। सिंधु जितना प्रवचन जो अपने हाथों से चला गया है उसमें प्रभु को मान्य जो भी बाबत है उसके अनुरूप – उसका सूचन करने वाली परंपराएँ आज भी अपने पास मौजूद है। तत् तत् परंपराओं को, वर्तमान आगम में स्पष्ट उल्लेख न मिलने मात्र से, अर्वाचीन और आगमबाह्य का मोहर लगाने का प्रयास योग्य नहीं है।

✿ संमूर्च्छिम मनुष्य की परंपरा सुविहित एवं प्राचीन

यदि यह परंपरा अर्वाचीन ही हो तो इसके आरंभक कौन? किन कारणों की बदौलत यह परंपरा उन्होंने प्रचलित की ? एक बात ध्यान बाहर न जाए :– वर्तमान में श्वेतांबर, दिगंबर, स्थानकवासी एवं

---

(१) जैन विश्वभारती, लाडनू संस्करण में अलग प्रकार से पाठपूर्ति की गई है। परंतु पूर्वापर संदर्भ के साथ एवं समूर्च्छिम मनुष्यों का भी त्रैविध्य आगम में प्रतिपादित होने से उचित ज्ञात नहीं होती। प्रस्तुत में आवश्यक न होने से इस विषय में विशेष चर्चा को यहाँ अवकाश नहीं है।

तेरापंथी – इन चारों संप्रदायों में संमूर्च्छिम मनुष्य की यतना से संलग्न परंपरा है। तथा वे सभी परंपराएँ ऐसा स्वीकार करती है कि अपनी कायिक प्रवृत्ति से संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना होती है। अत एव उन विराधनाओं से बचने के लिए विभिन्न प्रकार की रीतियाँ एवं सामाचारियाँ उन संप्रदायों द्वारा उपदिष्ट हैं। अत एव शरीर के बाहर निकले हुए रक्तादि में ही संमूर्च्छिम की उत्पत्ति मानने की परंपरा है। तत् तत् मान्यताभेद एवं आचरणाभेद के कारण ये चारों संप्रदाय कितनी शताब्दियों से अत्यंत दूर हो चुके हैं तथापि उन सभी संप्रदायों में चल रही परंपरा क्या अमुक दशकों पहले की ही हो सकती है? शायद कभी एकाध संप्रदाय में – गच्छ में कोई नई परंपरा का प्रारंभ हो वैसा बन सकता है। परंतु चारों संप्रदाय में 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचते रहना' – इस विषय में एकवाक्यता दिखती हो तब मानना ही रहा की इस सुविहित परंपरा के मूल बहुत गहरे हैं, प्रभुवीर के चरणों में हैं। ऐसी परंपरा को अपने थोड़े–बहुत अभ्यास के आधार पर ललकारना कदापि उचित नहीं – ऐसा हमारा नम्र मंतव्य है।

❁ चारों संप्रदायों की प्रस्तुत परंपरा में सम्मति

स्थानकवासी संप्रदाय के युवाचार्य **श्रीमधुकरमुनि** की रहनुमाई तले हुए **निशीथसूत्र** के अनुवाद में **श्रीकनैयालालजी** महाराज ने लिखा है कि *''यह भी ध्यान रखना चाहिए कि परठने के स्थान पर सूर्य की धूप आती है या नहीं, धूप न आती हो तो जल्दी नहीं सूखने से सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति हो कर ज़्यादा समय तक विराधना होती रहती है।''* (नि. अनुवाद – उ.३, सू.८०, श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर से प्रकाशित)

यहाँ संमूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना का इतना सहजतया उल्लेख

किया गया है कि उससे समस्त स्थानकवासी परंपरा में बुनी हुई संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक यतना का प्रतिघोष सुनाई देता है।

तेरापंथी संप्रदाय की ओर से प्रकाशित एवं **आचार्य श्रीतुलसी** की राहबरी तले अनूदित **श्रीनिशीथसूत्र** के पुस्तक में भी इस परंपरा का सहजतया उल्लेख किया गया है। ये रहे वे शब्द : *''पात्र में विसर्जित उच्चार आदि में जीवोत्पत्ति होने से संयमविराधना..''* (नि. उद्देशक-३/सू.८० जैन विश्वभारती की ओर से प्रकाशित)

दिगंबर परंपरा में, **भगवती आराधना** नामक प्राचीन ग्रंथ की **श्रीविजयोदया व्याख्या** में अमुक प्राचीन श्लोक उद्धरण के रूप में दिए गए हैं। उससे दिगंबरों की संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक मान्यता स्पष्ट होती है। वे श्लोक इस प्रकार हैं :

''कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद्भूरिभूभुजां ।
स्कन्धावारसमूहेषु प्रस्त्रावोच्चारभूमिषु ।।
शुक्र-सिंघाणक-श्लेष्म-कर्णदन्तमलेषु च।
अत्यन्ताऽशुचिदेशेषु सद्यःसम्मूर्च्छनेन ये ।।
भूत्वाऽङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्रशरीरकाः ।
आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्च्छिमा नराः ।।''(गा.७८१ वृ.)

इन श्लोकों में पूर्वोक्त पन्नवणा सूत्र की छांट अत्यंत स्पष्ट ज्ञात होती है।

चक्रवर्ती वगैरह राजाओं की छावनी में स्थित प्रचुर प्रमाण के मनुष्य जहाँ उच्चार-प्रस्रवण के लिए जाते हो उस उच्चारादि की ***भूमि*** में दीर्घकाल तक उच्चारादि (मल-मूत्रादि) न सूखने के कारण संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति प्रस्तुत श्लोकों में बता कर दो बाबत स्पष्ट की है - (१) शरीर में से निकलने के बाद ही उच्चार-प्रस्रवण में संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति मानी गई है। इस मान्यता की सिद्धि होने से यह

बात भी सिद्ध हो जाती है कि (२) संमूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना हमारी कायिक प्रवृतिओं से संभवित है।

प्रस्तुत श्लोकों के द्वारा यह बात स्पष्ट इसलिए हुई क्योंकि यहाँ चक्रवर्ती वगैरह की छावनी में स्थित उच्चार-प्रस्रवणभूमि गृहीत है। प्राचीन काल में मलत्याग के लिए बाहर खुले में ही जाने की प्रवृत्ति थी। सामान्यतया थोड़े मनुष्य जहाँ मलत्याग करते हो वहाँ धूप वगैरह के कारण मल के सूख जाने की शक्यता अधिक है। चक्रवर्ती की छावनी वगैरह में बहुत सारे लोग (९६ क्रोड जैसी विराट संख्या में) मलत्याग के लिए जहाँ जाते हो वहाँ अशुचि का ढेर बढ़ जाने की प्रबल संभावना है। वर्चोगृह(=शौचालय)- सफाई कामदार वगैरह की व्यवस्था से भी अशुचि का ढेर बढेगा। श्लोक में ऐसे स्थान ही निर्दिष्ट हैं जहाँ महान जनसंमर्द हो। परिणामतः अशुचिओं के ढेर की मात्रा उतनी बढने वाली है, कि जिसके शीघ्रतया सूख जाने की शक्यता नहींवत् है। परिणामतः, संमूर्च्छिम मनुष्य की प्रचुर प्रमाण में उत्पत्ति प्रबल संभवित है। इस तरह, प्रस्तुत में जहाँ दीर्घ काल तक मल वैगरह अशुचिओं के सूख जाने की शक्यता न हो वैसे ही स्थान दर्शा कर यह स्पष्ट किया है कि मल वगैरह अशुचि का शरीर से बाहर निकलना और सूख न जाना - यह संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है। यहां ध्यातव्य है कि सामान्य राजा की छावनी में वैसा विशिष्ट जनसमूह हो या न भी हो। अतः *'भूरिभूभुजां'* लिख कर यह अत्यंत स्पष्ट कर दिया है कि पुष्कल जनसंमर्द लेना ही अपेक्षित है। इसके कारण की विचारणा से भी उपर्युक्त फलितार्थ स्पष्ट होता है।

श्वेतांबर मूर्तिपूजक संप्रदाय में नवांगी टीकाकार **श्रीअभयदेव-सूरीश्वरजी महाराज** के शिष्यरत्न पंडित मुनिराज **श्रीहरिश्चंद्रविजयजी म.सा.** द्वारा विरचित **प्रश्नपद्धति** ग्रंथ में ऐसा उल्लेख मिलता है कि :

''उच्चार–प्रस्रवणादिरक्षणे मुहूर्त्तमात्रतो जीवोत्पत्तिः'' । (प्रश्न–३६) स्पष्ट बात है कि उच्चार–प्रस्रवण को रखने में एक मुहूर्त्त के बाद जो जीवोत्पत्ति बताई है वह संमूर्च्छिम मनुष्य की ही उत्पत्ति बताई है। मुनिराज श्रीहरिश्चंद्रविजयजी तो आचार्य श्रीअभयदेवसूरि के शिष्य थे। अतः इस परंपरा की प्रामाणिकता और प्राचीनता साबित होती है। पू. अभयदेवसूरि महाराज का सत्ताकाल विक्रम की ग्यारहवीं सदी का उत्तरार्ध और बारहवीं सदी का पूर्वार्ध है। अर्थात् यह परंपरा हज़ार वर्ष से भी अत्यंत प्राचीन सिद्ध होती है। पूज्य **अभयदेवसूरि** या उनके शिष्यरत्न इस नवीन परंपरा के स्थापक नहीं थे। परंतु उनके साहजिक उल्लेख से ज्ञात होता है कि उनके समय में यह सुविहित प्राचीन परंपरा साहजिक और दैनिक थी।

इस तरह चारों संप्रदायों में संमूर्च्छिम मनुष्य शरीर के बाहर उत्पन्न होने की और अपनी कायिक प्रवृत्ति से विराध्य होने की बात ही मान्य है। हाँ ! संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक चारों संप्रदायों में थोड़े–बहुत अंश में मान्यताभेद ज़रूर है। तथापि उन सभी संप्रदायों मे जिस तरह उस परंपरा का स्वीकार है – वह ऐसा अवश्य साबित करता है कि यह परंपरा सुविहित एवं अत्यंत प्राचीन है।

जैसे कि अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी के विषय में। उनके चरित्र के विषय में दिगंबर–श्वेतांबर संप्रदाय में मतभेद होने पर भी दोनों संप्रदायों में वे मान्य और संमान्य हैं.... परिणामतः वे अत्यंत प्राचीन ही साबित होते हैं, वे आजकल के कोई नवीन पुरुष नहीं हो सकते...

इस तरह, संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक मूलभूत सिद्धांत चारों संप्रदाय में समान है, यह तो निर्विवाद हक़ीक़त है। अतः यह परंपरा भी अत्यंत प्राचीन एवं प्रभुसम्मत माननी रही। अर्थात् परापूर्व से चली

आ रही यह परंपरा अनपलपनीय है, सैद्धांतिक है। बोलो कि अनादि है !!!

❁ प्रस्तुत परंपरा अभिनव होने में बाधक

यदि किसीने इस परंपरा को थोड़े दशकों के पहले चालु की हो वैसा मान लें तो अपनी मान्यता को आगममान्य सिद्ध करने के लिए दृष्टांत, तर्क, आगमिक प्रमाण वगैरह का उपन्यास करते हुए ग्रंथ की रचना अवश्य की होती, अथवा वैसा उल्लेख अपनी अन्य कृतिओं में किया ही होता। परंतु वैसा कुछ भी मालूम नहीं होता। साधुजीवन में अनेकविध यतनाओं को स्थान देने वाली परंपरा का यूँ ही निष्प्रयोजन और गतानुगतिकता से प्रारंभ होने की मान्यता तर्कशून्य एवं अनुचित है। अनैतिहासिक ज्ञात होती है। इस तरह, अब तक की चर्चा के अनुसार, संमूर्च्छिम मनुष्य की परंपरा

१) चारों जैन संप्रदायों में सदियों से चली आ रही है।
२) उसके कोई अभिनव उद्‌गाता ज्ञात नहीं होते, क्योंकि
३) वैसे कोई आद्य प्रवर्तक की ओर से तथाप्रकार की कोई ग्रंथरचना ज्ञात नहीं होती या वैसा उल्लेख भी नहीं दिखाई देता।
४) साधुजीवन में संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने हेतु सदियों पुरानी अनेकविध यतनाएँ प्रविष्ट हैं।
५) तथा यह परंपरा शास्त्रअविरुद्ध तो है ही, अपेक्षा से शास्त्रसिद्ध भी है, सुविहित भी है।

इतनी सबल और समर्थ परंपरा स्वयं आगमतुल्य प्रामाणिक साबित होती है एवं स्वतः आगमसिद्ध ही कहलाती है। तथापि प्रश्न उठ खड़ा हुआ है तो इस परंपरा को आगमिक-सैद्धांतिक साबित करने वाले प्रमाण भी देख लें। साथ में श्रीरामलालजी महाराज द्वारा पेश

किए गए सबूत एवं तर्क की भी जाँच कर लें।

सबसे मुख्य सबूत **श्रीपन्नवणाजी** का पूर्वोक्त सूत्र ही है। इस सूत्र का अर्थघटन श्रीरामलालजी महाराज अलग प्रकार से करते हैं एवं उसके लिए अमुक तर्क पेश करते हैं।

अपने A-1 क्रमांक विचारबिंदु में श्रीरामलालजी का यूँ कहना है कि *''इस आगमपाठ में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति शरीर के भीतर रहे मल, मूत्र आदि में नहीं होती है, न ही ऐसा कहा है कि शरीर के बाहर निकलने के बाद एक मुहूर्त्त तक मल-मूत्र आदि में संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। सूत्र में सामान्य रूप से संमूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पन्न होने के स्थानों का निर्देश किया है। वे स्थान चाहे शरीर के अंदर हो या बाहर कहीं भी संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं। इतना सुस्पष्ट आगमिक कथन होने के बावजूद पिछले कुछ समय से ऐसा माना जाने लगा कि शरीर में रहे मल-मूत्रादि में एवं शरीर के बाहर निकलने के बाद एक मुहूर्त्त तक उनमें संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती।''*

❁ प्रज्ञापना सूत्र का तात्पर्यार्थ

इस कथन की सत्यता का निर्णय करने के पूर्व एक बार प्रज्ञापना में दर्शित प्रस्तुत संमूर्च्छिम विषयक सूत्र (देखिए पृष्ठ – ६/७) को व्यवस्थित देख लें। पढने से ही सुस्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतया शरीर में से बाहर निकलने वाली अशुचिओं का नामोल्लेख पूर्वक वहाँ संग्रह किया गया है। विशेष संयोगों के अलावा बाहर न आते ऐसे मांस-अस्थि वगैरह का उल्लेख नहीं किया गया है। यदि शरीर के अंदर भी शास्त्रकार को संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति अभिप्रेत होती तो गर्भज मनुष्यों के समूचे शरीर को ही उनके उत्पत्तिस्थान के रूप में

दर्शाना उचित और लघुभूत होता। शरीर के भिन्न-भिन्न घन-प्रवाही द्रव्यों का उल्लेख कितना समुचित होता ?

एक शब्द अति नोंधपात्र है। वह है ***'वान्त'*** = उलटी = वमन। क्या उलटी शरीर के अंदर रही हुई चीज़ का दर्शक है या शरीर से बाहर निकले हुए पदार्थ का ? पित्त-वायु के प्रकोपवश अर्धपक्व आहार, जो शरीर के बाहर मुँह से निकल आता है उसे ही तो उलटी-वमन शब्द से बताया जाता है। तदुपरांत, उच्चारादि रूप अशुचिओं का स्थान बनने वाली 'गटर' यानी नाले का उल्लेख सूत्रकार करते हैं। यह तो बाहर की ही चीज़ है।

❁ शरीर में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति अशक्य - पन्नवणा सूत्र का गर्भितार्थ

एक अन्य बात भी ज्ञातव्य है कि मानवशरीर रक्त, मांस वगैरह सात धातुओं के द्वारा निर्मित है। ये तमाम धातु यदि शरीर में स्थित होने पर भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के स्थान बनते हो तो जीवंत मानवशरीर स्वयमेव उस संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति का स्थान बन गया। ऐसा ही यदि मान्य होता तो पन्नवणा सूत्र में ***'विगतजीवकलेवरेसु'*** - इस प्रकार मृत मानवशरीर को उत्पतिस्थान के रूप में स्वतत्रंतया बताने की आवश्यकता ही क्या थी ?

यहाँ यदि ऐसा कहना चाहो कि 'जीवंत शरीर में मांस, हड्डी में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती, मृत शरीर में होती है। अतः स्वतंत्र उल्लेख है।' तो यहाँ हमारा प्रश्न है कि जीवंत शरीर में रहे मांसादि में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? आपके मत से तो वे भी अशुचिरूप होने से वहाँ भी उत्पत्ति होनी ही चाहिए। जीवंत शरीर में एवं मृत शरीर में आत्मा की हाज़री-गैरहाज़री रूप ही मुख्य तफ़ावत

है। अतः यदि आत्मा की मौजूदगी के कारण जीवंत शरीरगत मांस में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मान्य न हो तो जीवंत शरीरगत रक्तादि में भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मान्य नहीं बनेगी।

तथा इस सूत्र में तो कलेवररूप उत्पत्तिस्थान को ***'विगतजीव'*** – ऐसे विशेषण से नवाजा गया है।

एक प्रसिद्ध सिद्धांत यह है कि – जिसके अभाव में जिसकी उत्पत्ति मान्य हो उसकी उपस्थिति उसकी उत्पत्ति में प्रतिबंधक बन जाती है। जैसे कि चंद्रकांत मणि के अभाव में अग्नि द्वारा दाह की उत्पत्ति मान्य है। अतः चंद्रकांत मणि की उपस्थिति दाह रूपी कार्य के प्रति प्रतिबंधक साबित होती है। यह निर्विवाद और प्रमाणित तथ्य है। प्रज्ञापना सूत्रकार ने जीव = मनुष्यआत्मा की अनुपस्थिति में = अभाव में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मानवशरीर में बताई है। उससे स्पष्टतया फलित होता है कि मनुष्यआत्मा की उपस्थिति संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति को मनुष्य शरीर में होने से रोकती है, उसके प्रति प्रतिबंधक साबित होती है। अर्थात् जीवंत मनुष्य शरीर में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती।

लहू, मल, मूत्र वगैरह चाहे मानवशरीर के बाहर हो या अंदर, यदि सर्वत्र संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मान्य हो तो मानवशरीर के तत् तत् लहू, मल, मूत्र वगैरह स्थान बताने के पश्चात् ***'विगतजीवकलेवरेसु'*** – यह स्थान लिखने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। उसमें भी कलेवर शब्द स्वयं मृतकदेह का सूचक होने पर भी उसके विशेषण के रूप में ***'विगतजीव'*** – ऐसा शब्द दिया गया है। 'जीव की अनुपस्थिति' – इस हक़ीक़त पर मानो सूत्रकार अधिक महत्ता दे रहे हैं – ऐसा स्पष्टतया प्रतीत होता है। इससे फलित होता है कि मनुष्यआत्मा की उपस्थिति में शरीर में, रक्तादि में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शास्त्रकारों को

बिलकुल इष्ट नहीं। इसीलिए मानवशरीर को संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थान के रूप में दर्शाते हुए उसे 'जीवरहित' – ऐसा बताना शास्त्रकार भूले नहीं हैं। अर्थात् 'जीवरहित होना' – यह बात संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के लिए शास्त्रकारों को आवश्यक ज्ञात हुई है।

❁ योनि विषयक विचारणा

इसके द्वारा, श्रीरामलालजी महाराज ने अपने A-2 क्रमांक विचारबिंदु में संमूर्च्छिम मनुष्य की उष्ण योनि भी सम्मत है वैसा पेश कर के शरीर के अंदर भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति सिद्ध करने का जो प्रयास किया है, उसका भी निरसन हो गया, क्योंकि उष्ण योनि सम्मत होने मात्र से जीवंत शरीर में संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती, प्रतिबंधक 'जीवात्मा' = 'मनुष्यात्मा' अंदर जीता-जागता बैठा है।

❁ विवृतयोनि के कथन से परंपरा की सिद्धि

रामलालजी महाराज ने जब 'योनि' की चर्चा छेड़ी ही है तब योनि विषयक एक प्रस्तुत पूरक बात समझ लें। शास्त्र में योनि = उत्पत्तिस्थान के विषय में अन्य प्रकार से तीन भेद बताए हैं : (१) संवृत योनि, (२) विवृत योनि, (३) संवृत-विवृतयोनि। इन उत्पत्तिस्थानों को व्याख्यायित करते हुए एवं संमूर्च्छिम मनुष्यों को कौन सी योनि होती है उसका सहेतुक प्रतिपादन करने वाले कुछएक शास्त्रपाठ सबसे पहले हम देख लें। तत्पश्चात् हमारे कथयितव्य की विशेष स्पष्टता करेंगे।

श्रीस्थानांगसूत्र (३/१/१४८) तथा **श्रीपन्नवणासूत्र** (९/१५२)

– दोनों में त्रिविध योनि का उल्लेख है। **पन्नवणासूत्र** का पाठ इस प्रकार है :

''कइविहा णं भंते ! जोणी पन्नत्ता ? गोयमा ! तिविहा जोणी पन्नता। तं जहा – संवुडा जोणी, वियडा जोणी, संवुड-वियडा जोणी।

नेरइयाणं भंते ! किं संवुडा जोणी, वियडा जोणी, संवुड-वियडा जोणी ?

गोयमा ! संवुडजोणी, नो वियडजोणी, नो संवुड-वियडजोणी, एवं जाव वणस्सइकायाणं ।

बेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! नो संवुडजोणी, वियडजोणी, नो संवुड-वियडजोणी। एवं जाव चउरिंदियाणं।

संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं संमुच्छिममणुस्साण य एवं चेव। गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं गब्भवक्कंतियमणुस्साण य नो संवुडा, नो वियडा जोणी, संवुड-वियडा जोणी।''

अब **श्रीमलयगिरिसूरि** महाराज द्वारा रचित प्रस्तुत सूत्र की **वृत्ति** का आवश्यक भाग देख लें :

''कइविहा णं भंते ! जोणी पन्नत्ता – इत्यादि । तत्र नारकाणां संवृता योनिः, नरकनिष्कुटानां नारकोत्पत्तिस्थानानां संवृतगवाक्षकल्पत्वात्। तत्र च जाताः सन्तो नैरयिकाः प्रवर्द्धमानमूर्तयस्तेभ्यः पतन्ति, शीतेभ्य उष्णेषु, उष्णेभ्यः शीतेष्विति। भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकानामपि संवृता योनिः, तेषां देवशयनीये देवदूष्यान्तरिते उत्पादात्, 'देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलाऽसंखेज्जइभागमेत्ताए सरीरोगाहणाए उववज्जइ' इति वचनात्।

एकेन्द्रिया अपि संवृतयोनिकाः, तेषामपि योनेः स्पष्टमनुपलक्ष्यमानत्वात्।

द्वीन्द्रियादीनां चतुरिन्द्रियपर्यन्तानां संमूर्च्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-

सम्मूर्च्छिममनुष्याणां च विवृता योनिः, तेषामुत्पत्तिस्थानस्य जलाशयादेः स्पष्टमुपलभ्यमानत्वात्, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-गर्भव्युत्क्रान्तिक-मनुष्याणां च संवृत-विवृता योनिः, गर्भस्य संवृत-विवृतरूपत्वात्। गर्भो ह्यन्तः स्वरूपतो नोपलभ्यते, बहिस्तूदरवृद्ध्यादिनोपलक्ष्यते इति।''

स्थानकवासी संप्रदाय में **श्रीघासीलालजी** महाराज की व्याख्या श्रीमलयगिरिसूरि महाराज की व्याख्या के साथ प्रायः अक्षरशः समान है। अर्थात् यह पदार्थ उनको भी मान्य ही था वैसा सिद्ध होता है।

स्थानांग सूत्र की **वृत्ति** में *''संवृता = सङ्कटा, घटिकालयवत्, विवृता विपरीता, संवृत-विवृता तूभयरूपा''* – ऐसी व्याख्या बताई गई है।

तत्त्वार्थसूत्र के **स्वोपज्ञभाष्य** (सू.२/३३) में **श्रीउमास्वाति महाराज** कहते हैं कि : *''नारकैकेन्द्रिय-देवानां संवृता, गर्भजन्मनां मिश्रा, विवृताऽन्येषामिति।''*

पूज्य हरिभद्रसूरि महाराज की **वृत्ति** इस प्रकार है : *''नारकैके-न्द्रियदेवानां संवृता = प्रच्छन्ना, गर्भजन्मनां तिर्यङ्-मनुष्याणां मिश्रा = संवृत-विवृता, विवृताऽन्येषामित्युक्तविपरीतानां सम्मूर्च्छनजन्म-द्वीन्द्रियादितिर्यङ्मनुष्याणामिति।''*

दिगंबर संप्रदाय के **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक** (२/३२) में *''संवृतो दुरुपलक्ष्यः।... देव-नारकैकेन्द्रियाः संवृतयोनयः, विकलेन्द्रिया विवृतयोनयः, मिश्रयोनयो गर्भजाः''*– ऐसा बताया गया है।

तत्त्वार्थश्रुतसागरीवृत्ति में भी ऐसी ही बात उपलब्ध होती है।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रंथ में भी –

''सीदुण्हमिस्सजोणी सच्चित्ताचित्तमिस्स विउडा य ।
सम्मुच्छिममणुयाणं सचित्तए होंति जोणीओ ।।''

(गा.४/२९५०)

– इस तरह स्पष्ट रूप में संमूर्च्छिम मनुष्य को विवृत योनि दर्शाई है। (यहाँ नोंधपात्र है कि संमूर्च्छिम तिर्यंच को त्रिलोकप्रज्ञप्ति [गा.५/२९५] में संवृतविवृतमिश्र योनि प्रतिपादित की गई है।)

गोम्मटसार, जीवकांड में, श्लोक – ८७ में

''सम्मुच्छणपंच्चक्खे वियलं वा विउडजोणी हु'' – इस तरह संमूर्च्छिम मनुष्य को विवृतयोनि बताई है।

प्रस्तुत ग्रंथ की **तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति** में *''संमूर्च्छनजपञ्चेन्द्रियेषु विकलेन्द्रियवद् विवृतैव योनिः''* – ऐसा स्पष्ट किया है।

संवृत–विवृतयोनि की व्याख्या करते हुए**तत्त्वप्रदीपिकाकार** श्लोक ८३ की व्याख्या में अत्यंत स्पष्ट बतातें हैं कि –

''दुरुपलक्ष्यो गुप्ताकारपुद्गलस्कन्धः संवृतः । प्रकटाकार उपलक्षणीयः पुद्गलस्कन्धो विवृतः।''

तात्पर्यार्थ स्पष्ट है कि प्रकट आकार वाला और पहचान सकें वैसा पुद्गलस्कंध विवृत है... उससे विपरीत हो वह संवृत...

❁ विवृतयोनि की संगति, शरीर के भीतर अनुत्पत्ति पक्ष में

इन सभी शास्त्रपंक्तिओं को ध्यान में लेते हुए संमूर्च्छिम मनुष्यों की योनि विवृत ज्ञात होती है। विवृत का अर्थ ***'स्पष्टमुपलभ्यमान'*** – ऐसा पूर्वाचार्यो ने किया है। गर्भज मनुष्य की योनि बाहर से ही उपलक्ष्यमाण और अंदर से अनुपलक्ष्यमाण होने से मिश्ररूप मानी गई है। अब तटस्थता से विचारणीय है कि शरीर के भीतर में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के स्वीकार में 'विवृतयोनि' संगत होती है या शरीर के बाहर उसकी उत्पत्ति के स्वीकार में 'विवृतयोनि' संगत होती है? शरीर के अंदर रहे उच्चार, रक्त, वान्त वगैरह में भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति स्वीकृत की जाए तो शरीर के भीतर उत्पन्न होने वाले संमूर्च्छिम

मनुष्य की संख्या शरीर के बाहर उत्पन्न होने वाले संमूर्च्छिम मनुष्यों से अधिक सिद्ध होगी। तो फिर 'विवृतयोनि' के कथन की संगति कैसे हो पाएगी ?

यद्यपि **जीवसमास प्रकरण** में बताए अनुसार विवृतयोनित्व वगैरह बाबत केवलिदृष्ट प्रकार से ही संगत करनी उचित है। उसमें अपनी मति का उपयोग योग्य नहीं। ये रहे **सवृत्तिक जीवसमास** शास्त्र के शब्द–

''एता एव योनीः संवृत–विवृतादिधर्मभेदेन सूत्रकारः स्वयमेव निरूपयन्नाह –

एगिंदिय–नेरइया संवुडजोणी य हुंति देवा य।

विगलिंदियाण वियडा संवुड–वियडा य गब्भम्मि ।।४५।।

एकेन्द्रिया नारकाश्च संवृतयोनयः । तत्र नारकाः कथं संवृत–योनयः ? उच्यते–तदुत्पत्तिस्थानभूतानां निष्कुटानां संवृतगवाक्षकल्पत्वात्। देवा अपि सर्वे संवृतयोनय एव, 'देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखिज्जइभागमेत्तीए सरीरोगाहणाए उववन्ना' इत्यादिवचनतः पट–प्रच्छादितेषु देवशयनीयेषु देवदूष्याभ्यन्तरे संवृतस्वरूपे तेषामुत्पादात्। एवमेतदनुसारत एकेन्द्रियाणामपि सर्वेषां केवलिदृष्टेन केनाऽपि प्रकारेण संवृतयोनित्वं = गुप्तयोनित्वं भावनीयम्। विकलेन्द्रियग्रहणेनेह द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रियाः तथा सन्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याश्च गृह्यन्ते, एषामपि मनोविकलत्वेन विशिष्ट–सम्पूर्णेन्द्रियकार्याऽकरणात् परमार्थतो विकलेन्द्रियत्वात् । ततोऽमीषां द्वीन्द्रियादीनां सर्वेषामपि विवृता = केवलिगम्येनैव केनापि प्रकारेणाऽगुप्तस्वरूपा योनिर्मन्तव्या । गर्भे तु ये जीवाः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याः समुत्पद्यन्ते तेषां संवृत–विवृता योनिः, आवृताऽनावृतस्वरूपेत्यर्थः। अत्रापि भावनाऽतीन्द्रियज्ञानगम्यैव।''

तथापि जब पटप्रच्छादित होने मात्र से देवों की योनि संवृत

कहलाती हो तो विवृतयोनिकत्व गर्भज मनुष्य के शरीर के बाहर मल-मूत्रादि में उत्पन्न होते संमूर्च्छिम मनुष्यों में संगत होगा या मानवशरीर के भीतर उत्पत्ति मान्य करने वाले पक्ष में ? यह तो एक विचारबीज होने से पेश किया है। विद्वज्जन यहाँ अधिक विमर्श के लिए निमंत्रित हैं।

संक्षेप में, यह बात हमें उस मान्यता की ओर ले जाती है कि : संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति शरीर के बाहर निकली हुई शारीरिक अशुचिओं में ही होती है।

❁ शरीर के भीतर उत्पत्ति मानने में अनिष्ट आपत्ति

मनुष्य शरीर के अंदर सतत संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के अभ्युपगम में यह मान्यता कैसी अनिष्ट कल्पना की ओर ले जाती है उसे भी समझ लें।

संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति एवं नाश अर्थात् जन्म और मृत्यु ढाई द्वीप के अंदर ही माने गए हैं – यह बात तो निर्विवाद है।

'कहि णं भंते सम्मूच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति?' **पन्नवणा** (१/९३) में दर्शित इस प्रश्न के जवाब में बताया है कि 'ढाई द्वीप में ही उनका संमूर्च्छन = जन्म होता है।' (देखिए पृष्ठ-७) इसके द्वारा संमूर्च्छिम मनुष्यों की संमूर्च्छना = उत्पत्ति ढाई द्वीप में ही शक्य होना बताया गया है।

अत एव **स्थानांग सूत्र** (६/३/४९०) में भी संमूर्च्छिम मनुष्य के त्रिविध प्रकार बताए हैं – (१) कर्मभूमिस्थित, (२) अकर्मभूमिस्थित, (३) अंतरद्वीपस्थित। इन तीनों प्रकार के मनुष्यों के जन्म-मृत्यु जहाँ होते हैं वह मनुष्यक्षेत्र है। मनुष्यक्षेत्र के बाहर ऐसे तीनों प्रकार के, फलतः गर्भज और संमूर्च्छिम दोनों प्रकार के मनुष्य के जन्म-मृत्यु का निषेध सिद्ध होता है। यह तो सर्वसम्मत आगमिक हक़ीक़त है।

यहाँ श्रीरामलालजी महाराज को हमारा प्रश्न है : (१) मनुष्यक्षेत्र के बाहर संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति और मृत्यु नहीं होती, किंतु क्या उनका अस्तित्व होता है ? जैसे गर्भज मनुष्य नंदीश्वरादि तीर्थों की यात्रार्थ जाते हैं क्या उस तरह संमूर्च्छिम मनुष्य का अस्तित्व ढाई द्वीप के बाहर मान्य है ? (२) या फिर ढाई द्वीप के बाहर संमूर्च्छिम मनुष्य का अस्तित्वमात्र असंभवित है – ऐसी आपकी मान्यता है?

प्रथम विकल्प तो उचित नहीं, क्योंकि ढाई द्वीप के बाहर यदि संमूर्च्छिम मनुष्य का स्वीकार गर्भज मनुष्य की माफिक किया जाए तो उसका मतलब यह हुआ कि विद्याचारण वगैरह लब्धिधारी महात्मा, देवकृत सहायसंपन्न या शक्तिसंपन्न विद्याधरादि श्रावक जब ढाई द्वीप के बाहर शाश्वत प्रतिमाओं के वंदन के लिए = चैत्यदर्शनार्थ जाएँगे तब भी उनके शरीर में संमूर्च्छिम मनुष्य तो होंगे ही, क्योंकि शरीर के अंदर रहे हुए मल–मूत्रादि में भी आपने संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति तो स्वीकृत की है। एवं प्रस्तुत प्रथम विकल्प के अनुसार ढाई द्वीप के बाहर भी संमूर्च्छिम मनुष्य का अस्तित्व स्वीकार किया है।

यहाँ तकलीफ तो इस बात की होगी कि जो संमूर्च्छिम मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर गए हैं उन संमूर्च्छिम मनुष्यों की मृत्यु = विनाश ढाई द्वीप के बाहर तो शक्य नहीं, क्योंकि ढाई द्वीप के बाहर सर्व प्रकार के मनुष्य के जन्म एवं मृत्यु आगम में निषिद्ध ही हैं। यह बात तो हम प्रमाणपुरस्सर पहले ही सिद्ध कर चुके हैं। ढाई द्वीप के बाहर गए हुए मुनि या अन्य मनुष्य अंतर्मुहूर्त्त में ही ढाई द्वीप के अंदर पुनः लौट ही जाए–वैसा नियम तो है नहीं। सहज बात है कि भक्ति के लिए गए उनको वहाँ चार–पाँच घंटे तो लगेंगे ही। इस समय दौरान संमूर्च्छिम मनुष्य की विपत्ति = मृत्यु अशक्य होने से चार–पाँच घंटों तक का उनका आयुष्य मानने की आपत्ति खड़ी होगी। यह बात तो किसी भी

तरह आगमसम्मत नहीं हो सकती।

आगम में *''अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति''* (**पन्नवणा** के प्रकृतसूत्र का अंत्य अंश) – ऐसा बताने द्वारा साफ-साफ बता दिया है कि संमूर्च्छिम मनुष्य का आयुष्य अंतर्मुहूर्त्त ही होता है। फलितार्थ स्पष्ट है कि प्रथम विकल्प वाजिब नहीं। तथा उसका मूल 'शरीर के भीतर रहे मलादि में भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति हो सकती है' – यह मान्यता है, कि जो मिथ्या होना ज्ञात होती है।

अब यदि दूसरा विकल्प स्वीकार किया जाए कि 'ढाई द्वीप के बाहर संमूर्च्छिम मनुष्य का अस्तित्वमात्र संभवित नहीं। अर्थात् जंघाचारणादि लब्धिसंपन्न महात्मा या अन्य मनुष्य वगैरह ढाई द्वीप के बाहर जाए तब उनके शरीर में संमूर्च्छिम मनुष्य नहीं होते।' तो यह बात भी सैद्धांतिक परीक्षा को सहन नहीं कर पाएगी, क्योंकि संमूर्च्छिम मनुष्य का जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य अंतर्मुहूर्त्त ही बताया गया है। अतः जिस समय मुनि ढाई द्वीप के बाहर पैर रखेंगे उसी समय उनके शरीर के अंदर रहे हुए सर्व संमूर्च्छिम मनुष्य नष्ट हो जाएँगे – वैसा तो मानना शक्य नहीं है, क्योंकि उसकी पूर्व क्षण में ही उत्पन्न हुए संमूर्च्छिम मनुष्य अपने आयुष्य का अंतर्मुहूर्त्त कैसे पूरा करेंगे? अंतर्मुहूर्त्त तो कम से कम आवश्यक ऐसा समयखंड है। अर्थात् संमूर्च्छिम मनुष्य का जघन्य आयुष्य भी अंतर्मुहूर्त्त है। अतः ऐसी कल्पना आपको माननी पड़ेगी कि जो मुनि ढाई द्वीप के बाहर जाने वाले हो उनके शरीर में, उनके ढाई द्वीप के बाहर पैर रखने के अंतर्मुहूर्त्त पहले से ही नए संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति समूची बंध हो जाती है। तथा पूर्विल तमाम संमूर्च्छिमों का क्रमशः विनाश भी मान्य करना पड़ेगा।

इसमें भी केवलीदृष्ट का ही सहारा रामलालजी महाराज को लेना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि इच्छा होने मात्र से महात्मा ढाई

द्वीप के बाहर पहुँच जाए वैसा तो सर्वत्र संभव है नहीं। समय-संयोग अनुसार उसमें परिवर्तन को अवकाश है। अतः केवली ने देखा कि यह साधु अंतर्मुहूर्त्त के बाद ढाई द्वीप के बाहर जाने वाला है, अतः तदनुसार उसके शरीर में संमूर्च्छिम मनुष्यों की योनि का अचानक-अहेतुक ध्वंस, नए मनुष्यों की अनुत्पत्ति और पुराने मनुष्यों का नाश रामलालजी महाराज को मानना ही रहा। संमूर्च्छिम मनुष्य के विषय में यह कितनी क्लिष्ट और अनागमिक परंपरा-कल्पना लगती है। साथ में ढाई द्वीप के बाहर जाने का प्रायश्चित्त किस शास्त्र में मिलेगा? क्योंकि ढाई द्वीप के बाहर मुनि न जाए तो शरीर में संमूर्च्छिम योनि का नाश न होता, उनकी उत्पत्ति बरकरार रहेती। ढाई द्वीप के बाहर मुनि जाए तो संमूर्च्छिम मनुष्यों का, तथा उनकी योनि का उपर्युक्त पद्धति से नाश मानना पड़ता है। यह तो मुनि की प्रवृत्ति से संमूर्च्छिम की विराधना हुई। अतः उसका प्रायश्चित्त भी दर्शाना ही रहा। तथा संमूर्च्छिम मनुष्यों की कायिक विराधना शक्य न होने का कथन भी मृषा साबित होगा, क्योंकि उपर्युक्त अनुसार, ढाई द्वीप के बाहर जाने की कायिक प्रवृत्ति से संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना सिद्ध होती है। अत्यंत शांत चित्त से यह बाबत विचारणीय है।

यदि शरीर के बाहर निकली अशुचिओं में ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मान्य की जाए तो इस आपत्ति को अवकाश ही नहीं रहता, क्योंकि गर्भज मनुष्य स्वयं ढाई द्वीप के बाहर जाता है। परंतु अपने व्युत्सृष्ट मलादि को साथ में ले कर नहीं जाता। तथा ढाई द्वीप के बाहर जा कर अशुचि विसर्जन नहीं करता अथवा विसर्जन करता हो तो भी उसमें क्षेत्रप्रत्ययिक/क्षेत्रप्रभाव से योनि का निर्माण न होने से संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती।

सिद्धांत के खातिर सैद्धांतिक रूप में यदि कोई ऐसा प्रश्न करे

कि अशुचि को कोई मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर यदि ले जाए तो क्या? तब जवाब यही होगा कि वह विध्वस्तयोनिक अशुचि को ही ढाई द्वीप के बाहर ले जा पाएगा। संमूर्च्छिम मनुष्य से युक्त ऐसी अशुचि को बाहर नहीं ले जा सकता। जैसे "जिसका शेष अंतर्मुहूर्त्त का ही आयुष्य है, देव जिसका संहरण कर के ढाई द्वीप के बाहर ले जाए तो पुनः ढाई द्वीप के अंदर लाने जितना भी समय न हो – उतना ही जिसका आयुष्य हो वैसे व्यक्ति को कोई देव ढाई द्वीप के बाहर ले जाए तो उस मनुष्य की क्या वहाँ मृत्यु होगी या उसका आयुष्य बढ़ जाएगा?" – ऐसे प्रश्न के जवाब में कहना ही पड़ेगा कि वैसे व्यक्ति का देव द्वारा संहरण होता ही नहीं।

इसीलिए तो **जीवाभिगमसूत्र** की **व्याख्या** में **श्रीमलयगिरि** महाराज (जीवा. प्रति–३, उद्देश–२, सू.१७७) ने स्पष्टतया बताया है कि –

"मनुष्याणां जन्म मरणं चात्रैव क्षेत्रे, न तद्बहिः । तथा हि – मनुष्याः मनुष्यक्षेत्रस्य बहिर्जन्मतो न भूताः, न भवन्ति, न भविष्यन्ति च। तथा यदि नाम केनचिद् देवेन दानवेन विद्याधरेण वा पूर्वानुबद्ध-वैरनिर्यातनार्थमेवंरूपा बुद्धिः क्रियते यथाऽयं मनुष्योऽस्मात् स्थानाद् उत्पाट्य मनुष्यक्षेत्रस्य बहिः प्रक्षिप्यतां येनोर्द्ध्वशोषं शुष्यति म्रियते वेति तथापि लोकानुभावादेव सा काचनाऽपि बुद्धिर्भूयः परावर्त्तते यथा संहरणमेव न भवति, संहृत्य वा भूयः समानयति, तेन संहरणतोऽपि मनुष्यक्षेत्राद् बहिर्मनुष्या मरणमधिकृत्य न भूताः, न भवन्ति, न भविष्यन्ति च। येऽपि जङ्घाचारिणो विद्याचारिणो वा नन्दीश्वरादीनपि यावद् गच्छन्ति तेऽपि तत्र गता न मरणमश्नुवते, किन्तु मनुष्यक्षेत्रसमागता एव।"

इस तरह, शरीर से बाहर निकली हुई व्युत्सृष्ट अशुचिओं का ढाई द्वीप से बहिर्गमन निवार्य है, परंतु शरीर के अंदर रक्तादि में भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मान लेने से गर्भज मनुष्य की गति–

आगति ढाई द्वीप के बाहर भी होने से अत्यंत असामंजस्य की आपत्ति आएगी। सहसा अहेतुक योनिविध्वंस वगैरह की अक्लृप्त कल्पना ही डंके की चोट पर सिद्ध करती है कि शरीर के भीतर रहे मल आदि में शास्त्रकारों को संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति मान्य नहीं। किंतु संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शरीर से बाहर निकले हुए मल-मूत्रादि में, एवं उसके प्रतिबंधकीभूत मनुष्यात्मा की अनुपस्थिति में ही संभवित होना मान्य है।

❁ उच्चारादि उच्चारत्व रूप में नहीं, अशुचित्वरूप में उत्पत्तिस्थान

रामलालजी अपने लेख के A-3 क्रमांक विचारबिंदु में बताते हैं कि *''आगम में उच्चार (मल) को सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्तियोग्य योनि कहा गया है, तो शरीर में रहे उच्चार में भी द्वीन्द्रियादि जीवों की तरह सम्मूर्च्छिम मनुष्य भी उत्पन्न हो सकते हैं – ऐसा सिद्ध होता है ।''*

यह तर्क वाजिब नहीं। एवं शास्त्रकारों के आशय से विपरीत भी है। पन्नवणासूत्रकार उच्चार को उच्चारत्व रूप में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्तिस्थानरूप योनि नहीं कहना चाहते, किंतु उच्चार को गर्भज मनुष्यसत्कअशुचिस्थानत्वेन संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि कहना उनको अभिप्रेत है। मल, मूत्र, श्लेष्म वगैरह अनेक अशुचिस्थानों के निर्देश के पश्चात् *'सव्वेसु चेव असुइएसु ठाणेसु'* – **पन्नवणा**सूत्रकार का यह वचन अशुचिस्थानत्व रूप में ही मल-मूत्र आदि को संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि के रूप में सिद्ध करता है।

(रामलालजी महाराज ने पन्नवणा सूत्र का अर्थ करते हुए – ''नगर की गटरों-मोरियों में *अथवा* सभी अशुचिस्थानों में'' – ऐसा जो बताया है वह वाजिब नहीं, क्योंकि मूलसूत्र में 'सव्वेसु चेव असुइठाणेसु' के पश्चात् 'वा' नहीं लिखा है। अतः अर्थ में बताया हुआ

'अथवा' शब्द वाजिब नहीं है। फलतः प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह होता है कि ''नगर की गटर वगैरह स्वरूप तमाम अशुचिस्थानों में...'' इत्यादि। अतः शारीरिक अशुचियाँ–उच्चारादि, अशुचित्व के रूप में ही संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थान साबित होते हैं।)

इस बात को समझने के लिए फलपूजा का दृष्टांत सोचें – 'सेब, केले वगैरह फल प्रभु को चढा सकते हैं...' – ऐसे कथन में सेब का सेबत्व के रूप में ग्रहण अभिप्रेत नहीं, किंतु फलत्व के रूप में अभिप्रेत है। सेब फल है, इसलिए यहाँ उसका ग्रहण किया गया है, सेब 'सेब' है इसलिए नहीं। सेब 'सेब' होने के उपरांत में यदि फल न होता तो यहाँ उसका ग्रहण अभिप्रेत न होता।

'रमेश, महेश वगैरह ब्राह्मणों को भोजन खिला दो' – इस विधान में भी यही बात प्रतिबिंबित होती है। रमेश 'रमेश' है तदर्थ नहीं किंतु वह ब्राह्मण है अतः उसे यज्ञादि प्रसंग में भोजन खिलाने की बात है। रमेश यदि ब्राह्मण न होता तो उसे खिलाना यहाँ मान्य न होता।

इसी बात का प्रतिघोष पन्नवणासूत्र में भी सुनाई देता है। 'मल वगैरह गर्भजमनुष्य संबंधी अशुचिस्थानों में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होती है' – यह विधान मल वगैरह को मलत्व रूप में नहीं किंतु गर्भजमनुष्यसत्कअशुचिस्थानत्व के रूप में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के स्थान के रूप में सिद्ध करते हैं। अर्थात् मल 'मल' है तदर्थ नहीं, किंतु गर्भज मनुष्य का अशुचिस्थान है। अतः वह संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति का स्थान है। परिणामतः, मल 'अशुचि' हो तभी उसमें संमूर्च्छिम की उत्पत्ति अभिप्रेत होना निश्चित होता है। उसके पहले नहीं।

❁ ठाणांग सूत्र के संदर्भ से शरीर से बाहर निकली अशुचि ही अस्वाध्याय

अब संशोधन इस बात का शेष रहा कि शरीर के अंदर रहे हुए मल-रक्त वगैरह आगमिक परंपरा अनुसार अशुचितया व्यवहर्तव्य हैं या शरीर से बाहर निकले हुए मल-रक्तादि में ही अशुचिपना का व्यवहार आगमिक है। इस विषय में अस्वाध्याय स्थानों का निर्देश करता हुआ **ठाणांग** का एक सूत्र देखें :- (स्था.१०/सू.७१४) *"दसविधे ओरालिते असज्झातिते पन्नते। तं जहा - अट्ठि, मंसे, सोणिते, असुतिसामंते, सुसामसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडणे, रायवुग्गहे, उवस्सगस्स अंतो ओरालिते सरीरगे।"*

समर्थ व्याख्याकार **श्रीअभयदेवसूरि** महाराज की **व्याख्या** का अंश :-

"औदारिकस्य मनुष्य-तिर्यक्शरीरस्येदम् = औदारिकमस्वाध्यायिकम्। तत्रास्थि-मांस-शोणितानि प्रतीतानि। तत्र च पञ्चेन्द्रियतिरश्चामस्वाध्यायिकं द्रव्यतोऽस्थि-मांस-शोणितानि, ग्रन्थान्तरे चर्म्माऽप्यभिधीयते, यदाह - 'सोणिय मंसं चम्मं अट्ठी वि य होंति चत्तारि' ***(आवश्यकनिर्युक्ति - गाथा १३६५)*** *इति। क्षेत्रतः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे, कालतः सम्भवकालाद्यावत्तृतीया पौरुषी, मार्जारादिभिर्मूषिकादिव्यापादने अहोरात्रं चेति। भावतः सूत्रं नन्द्यादिकं नाध्येतव्यमिति।*

मनुष्यसम्बन्ध्यप्येवमेव। नवरं क्षेत्रतो हस्तशतमध्ये कालतोऽहोरात्रं यावत्, ***आर्त्तवं दिनत्रयम्, स्त्रीजन्मनि दिनाष्टकम्, पुरुषजन्मनि दिनसप्तकम्,*** *अस्थीनि तु जीवविमोक्षदिनादारभ्य हस्तशताभ्यन्तरस्थितानि द्वादश वर्षाणि यावदस्वाध्यायिकं भवति, चिताग्निना दग्धान्युदकवाहेन वा व्यूढान्यस्वाध्यायिकं न भवति, भूमिनिखातान्यस्वाध्यायिकमिति।*

तथा ***अशुचीनि = अमेध्यानि मूत्र-पुरीषाणि*** *तेषां सामन्तं = समीपमशुचिसामन्तमस्वाध्यायिकं भवति, उक्तं च कालग्रहणमाश्रित्य - 'सोणिय-मुत्त-पुरीसे घाणालोयं परिहरेज्जा'* ***(आवश्यकनिर्युक्ति गा.***

१४१४) इति। श्मशानसामन्तं शबस्थानसमीपम्।''

घासीलालजी महाराज की **व्याख्या** प्रस्तुत प्राचीन **अभयदेवसूरि महाराज** की **व्याख्या** का ही अनुसरण करती है। अभयदेवसूरि महाराज ने अपनी व्याख्या में **आवश्यकनिर्युक्ति** के जो श्लोक उद्धृत किए हैं उन्हीं श्लोकों का घासीलालजी महाराज ने भी उद्धरण कर के निर्युक्ति आदि को भी प्रमाणभूत प्रतिष्ठित की है। उनकी **वृत्ति** भी देख लें :

*''औदारिकम्, उदारं = मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यक्शरीरं, तस्येदमौदारिकम् = मनुष्य-पञ्चेन्द्रियतिर्यक्शरीरमाश्रित्य जातम् अस्वाध्यायिकं दशविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा - 'अट्ठि-मंसं' इत्यादि । अस्थि-मांस-शोणितानि प्रतीतानि। तत्र पञ्चेन्द्रियतिरश्चाम् अस्थि-मांस-शोणितानि द्रव्यतोऽस्वाध्या-यिकानि। उपलक्षणत्वाच्चर्मापि गृह्यते। ततश्च चर्मापि द्रव्यतोऽस्वाध्यायिकं भवति। उक्तं च - 'सोणिय मंसं चम्मं अट्ठि वि य होंति चत्तारि' (**आवश्यकनिर्युक्ति** गा. १३६५) इति।*

क्षेत्रतो मनुष्यकलेवरे शतहस्ताभ्यन्तरे तिर्यक्शरीरे षष्टिहस्ताभ्यन्तरे। कालतो यावत्कालं दृश्यते तावत्। भावतो मनसाऽप्यपठनमिति। मनुष्याणाम् अस्थि-चर्म-मांस-शोणितानि द्रव्यतोऽस्वाध्यायिकानि भवन्ति। क्षेत्रतः अस्थि हस्तशताभ्यन्तरे पतितमस्वाध्यायिकं भवति। अथ तत्स्थानमग्निकायेन ध्मातं पानीयप्रवाहेण वा धौतं तदा अस्वाध्यायो न भवति। चर्म-मांस-शोणितानि तु हस्तशताभ्यन्तरे स्थितानि यदि भवन्ति तदा स्वाध्यायो न कल्पते। कालतो यावत्कालं तिष्ठन्ति तावदस्वाध्यायः। यदि कस्याश्चित् सप्तगृहाभ्यन्तरे प्रसूताया दारको जातस्तदा सप्तदिनान्यस्वाध्यायः, अष्टमे दिवसे स्वाध्यायः कर्तव्यः। अथ दारिका जाता तर्हि तस्यां जातायामष्टौ दिनान्यस्वाध्यायः, नवमे दिने स्वाध्यायः कल्पते इति भेदत्रयम्।

अशुचिसामन्तम् = अशुचीनाम् = अपवित्राणाम् उच्चारादीनां सामन्तं = सामीप्यम् अस्वाध्यायिकं भवति। उच्चारादिषु प्राणालोक-

विषयेषु सत्सु अस्वाध्यायो बोध्यः इति चतुर्थो भेदः।''

इस सूत्र के द्वारा स्पष्टतया अशुचि के निकट में अस्वाध्याय दर्शाया है। एवं अशुचि के रूप में उभय संप्रदाय के वृत्तिकारों ने मल वगैरह का ग्रहण किया है। यहाँ 'मल' शरीर के बाहर रहा हुआ ही ग्रहीतव्य है या फिर शरीर के भीतर रहा हुआ भी? यदि शरीर के भीतर रहे मल-मूत्रादि को भी अशुचि कहोगे तो उसकी उपस्थिति में अस्वाध्याय मानने की आपत्ति दुर्वार बनेगी। अर्थात् कदापि स्वाध्याय नहीं कर पाएँगे, क्योंकि प्रायशः शरीर में मल-मूत्रादि की उपस्थिति, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी, कायम होने से अशुचिसामीप्यरूप अस्वाध्यायिक स्वाध्याय के प्रति प्रतिबंधक सिद्ध होगा।

❁ शरीर के बाहर रहे हुए मलादि का ही अशुचितया व्यवहार

प्रश्न : घ्राण-आलोक का विषय बनने वाले मल-मूत्रादि को ही अस्वाध्याय का कारण माना गया है। शरीर के भीतर रहे मलमूत्रादि घ्राण-आलोक के विषय नहीं। अतः वे अशुचि होने पर भी अस्वाध्यायिक नहीं होगा, *अशुचिसामीप्यस्य घ्राणालोकविषयत्वरूपस्य विवक्षितत्वात्।*

उत्तर : शरीर के भीतर रहे मलादि घ्राण का विषय नहीं बनते – यह बात असिद्ध है। क्या वायुनिर्गम आदि द्वारा यह बात घ्राणज प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं? स्वानुभव ही प्रमाण है न? तदुपरांत, गंध आए या न आए – उससे अस्वाध्यायिक का निर्णय नहीं होता। परंतु गंध आने की शक्यता हो उस सीमा के अंदर अशुचि होने मात्र से अस्वाध्यायिक हो जाता है। अत एव नाक पर रूमाल या कपड़ा दबा कर विष्टा के नज़दीक स्वाध्याय की अनुज्ञा नहीं मानी गइ है। इत्यलं प्रसङ्गेन!

तथ्य स्पष्ट है कि शरीर के भीतर रहे मलादि अशुचि के रूप में विवक्षित है ही नहीं, किंतु शरीर के बाहर निकले हुए मलादि ही अशुचि के रूप में आगमपरंपरा में सम्मत हैं। अन्यथा सर्वदा अस्वाध्याय की आपत्ति आएगी।

परिणामतः, जब मलादि को अशुचिस्थानत्व के रूप में प्रज्ञापना सूत्रकार संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति का स्थान बताते हो तब उनका आशय शरीर से बाहर निकले हुए मलादि को ही संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थान के रूप में बताना फलित होता है, न कि शरीर के भीतर रहे हुए मलादि को भी, क्योंकि उनका अशुचितया व्यवहार आगमिक नहीं। वैराग्य की परिभाषा में वैराग्यजनन के लिए कदाचित् शरीर के भीतर रहे मलादि को अशुचि के रूप में दर्शाया हो तो उस कथन को प्रयोजनविशेष से निर्दिष्ट मानना चाहिए। परंतु आगमिक तथ्यों का प्रतिपादन करते वक़्त आगमकार महर्षिओं को अशुचिभूत मलादि के रूप में शरीर में से बाहर निकले हुए मलादि ही मान्य हैं। अन्यथा जिनालयादि में जाने से आशातना का प्रसंग भी लगेगा ही। इस बात का स्वीकार मध्यस्थता से करना ही रहा !

'यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति को अस्वाध्याय के साथ संलग्न करोगे तो शरीर के बाहर निकले हुए अशुचि में तुरंत ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि वे अशुचियाँ भी अस्वाध्यायरूप बनती ही है' – ऐसी दलील अत्यंत अतार्किक है। इसका कारण यह है कि अशुचिस्थान के सिद्ध होने मात्र से वहाँ तत्काल संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होने लगती है – वैसा नियम है ही नहीं। परंतु 'जहाँ संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होती है वे नियमतः अशुचिस्थान ही होते हैं' – वैसा नियम है। अतः रामलालजी महाराज शरीर के अंदर संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मानते हो तो उन्हें जीवंत शरीर को शास्त्रीय

एवं व्यावहारिक रूप में अशुचिस्थान के रूप में सिद्ध करना ही रहा – यही हमारी बात है। सूक्ष्मबुद्धि से यह बात अनुप्रेक्षणीय है।

दश औदारिक अस्वाध्याय के प्रतिपादक पूर्वोक्त **ठाणांग सूत्र** को एक अन्य दृष्टिकोण से देखें। वहां शोणित, मांस, अस्थि वगैरह को अस्वाध्यायिक = स्वाध्यायप्रतिबंधक बताए हैं। वहाँ शास्त्रकारों ने ऐसा नहीं बताया कि शरीर के बाहर निकले हुए शोणित (=लहू) वगैरह ग्रहण करना या शरीर के भीतर रहे हुए लहू का ग्रहण करना। ऐसे अनुल्लेख मात्र से क्या ऐसा मान लेना उचित होगा कि शरीर के भीतर रहे शोणितादि भी अस्वाध्याय के कारण के रूप में विवक्षित हैं? यहाँ स्पष्टतया शरीर में से बाहर निकले रक्त, मांस, अस्थि वगैरह को ही अस्वाध्यायिक माने गए हैं। अन्यथा तो साधु कदापि स्वाध्याय ही नहीं कर पाएगा।

तो फिर **पन्नवणासूत्रकार** जब 'रक्त आदि अशुचिस्थान में संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं' – वैसा कथन कर रहे हो तब 'शरीरनिर्गत रक्त या शरीरअनिर्गत रक्त' – ऐसा उल्लेख न होने से ''रक्तत्वसाधर्म्य से उभयविध रक्त में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति पन्नवणासूत्रकार को मान्य है'' – वैसा मान लेना क्या अनुचित नहीं है? अन्यथा इसी न्याय से, शरीरनिर्गतत्व वगैरह के अनुल्लेख मात्र से, शरीरगत रक्त को भी पूर्वोक्त स्थानांगसूत्रसंदर्भ से स्वाध्याय के प्रति प्रतिबंधक सिद्ध करने वाले व्यक्ति की बोलती रामलालजी महाराज कैसे बंध कर पाएँगे ? अतः अशुचि के रूप में रक्तादि को उद्देश्य कर जब शास्त्रकार किसी बाबत का विधान या निरूपण करते हो तब उन आगमकार महर्षिओं का आशय शरीरबहिर्निर्गत रक्तादि में ही है – वैसा निर्विवाद रूप से प्रामाणिकतया ज्ञात होता है।

❀ स्त्री–पुंसंयोग की स्पष्टता

अपने A-4 क्रमांक विचारबिंदु में रामलालजी महाराज बताते हैं कि : *''शरीर के भीतर रहे मलादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति सुनिश्चित होने का एक ओर महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि उपर्युक्त आगमपाठ में आगमकारों ने स्त्री–पुरुषसंयोग में भी सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति मानी है। स्त्री–पुरुषसंयोग मनुष्य स्त्री के शरीर के भीतर होता है एवं वहाँ सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से मानी गई है। इसी तरह शरीर के भीतर रहे मलादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति हो सकती है।''*

यह कथन भी कुछ सूक्ष्म विचारणा माँग लेता है। स्त्री–पुरुष का संयोग अंततोगत्वा शुक्र–शोणित के संयोग में ही पर्यवसित होता है। शुक्र–शोणित के संयोग को प्रस्तुत में स्त्री–पुरुष का संयोग कहा गया है। यह मिश्रण स्वयं अचित्त है, मनुष्यात्मप्रदेश से अधिष्ठित नहीं। इस बाबत में अधिक स्पष्टता करने से पहले अमुक शास्त्रपाठ देख लें।

जीवसमास प्रकरण में वृत्तिकार **श्रीमलधारि हेमचंद्रसूरि महाराज** प्राचीन पूर्वर्षिओं की परंपरा के आधार पर बताते हैं कि –

''मनुष्ययोनिस्वरूपमिदं पूर्वसूरिभिर्लिखितमवलोक्यते। तद् यथा स्त्रीणां नाभेरधः शिराद्वयाऽधस्तादधोमुखसंस्थितकोशाकारा योनिः। तस्याश्च बहिश्चूतमञ्जरिकल्पा मांसस्फोटिका ऋतुकाले स्फुटन्ति, तेभ्यः शोणितं गलति। तत्र केचन रक्तावयवाः योनेरन्तर्विशन्ति, तांश्च पुरुषशुक्रसम्पृक्तानासाद्य जीवः समुत्पद्यते।''(जीवसमास गा. ४५ वृ.)

''अचित्तानामपि शुक्र–शोणितपुद्गलानां तत्र सद्भावात् ।''
(जीवसमास गा. ४६ वृ.)

यह बात स्थानकवासी एवं मूर्तिपूजक दोनों परंपराओं को मान्य

ही है। यहाँ स्पष्ट ज्ञात होता है की शोणित (स्त्री का रक्त) भी अपने मूल उद्गमस्थान से पृथक् होता है, पुरुष की शुक्र धातु भी झरित होती है, पृथक् होती है। ये दोनों स्त्री की योनि में प्रविष्ट हो तब संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के कारण स्वरूप बताना अभिप्रेत है। इस तरह ये दोनों चीज़, अपने मूलस्थान से खिसक कर अन्यत्र, उत्पत्ति के लिए समुचित ऐसे मनुष्यस्त्रीयोनिस्वरूप स्थान में, पहुँचे हैं। अत एव संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के कारण हैं।

स्त्रीशरीर में मूलस्थान में स्थित शोणित में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती। पुरुषशरीर में स्थित शुक्र में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती। परंतु अपने मूलस्थान से पृथक् ऐसे उन दोनों के संयोग में ही वह बताई है, क्योंकि शुक्र पुरुषदेह से पृथक् हुआ है। तथा शुक्रपुद्गल परिशाट में तो संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति बताई ही है। कथंचित् पूर्वोक्त मनुष्यात्मा स्वरूप प्रतिबंधक की उपस्थिति सिद्ध होने पर भी वह योनिस्थान तो योनिस्थान = मनुष्य का उत्पत्तिस्थान होने से संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति को विशिष्ट रूप में अनुकूल होने के रूप में उत्तेजक बनता है। योनिस्थान = मनुष्यजन्मस्थान तो जीवंत मनुष्य शरीरगत होने पर भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति में प्रतिबंधक नहीं प्रत्युत उत्तेजक ही बनता है – यह बात तो आसानी से समझ में आए वैसी है। अतः, वहाँ संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मानने में कोई बाध नहीं ।

उत्तेजक की बात न्यायशास्त्र के अभ्यासी के लिए अस्पष्ट नहीं है। तथापि थोड़ी अधिक स्पष्टता कर लें :

अग्नि से दाह उत्पन्न होता है। यदि चंद्रकांत मणि का सन्निधान हो तो दाह नहीं होता। फलतः, चंद्रकांत मणि दाह के प्रति प्रतिबंधक साबित होता है। चंद्रकांत मणि हाज़िर होने पर भी यदि सूर्यकांत मणि को भी हाज़िर किया जाए तो दाह होता है। अतः सूर्यकांत मणि को

उत्तेजक माना गया है। इस तरह, प्रतिबंधक की मौजूदगी में कार्य का होना – वह उत्तेजक को आभारी होता है। प्रस्तुत में मनुष्यआत्मा, देहवर्ती रक्तादि में संमूर्च्छिम की उत्पत्ति के प्रति प्रतिबंधक है। यह बात *'विगतजीवकलेवरेसु'* ऐसा कहने द्वारा पहले (पृ.१६) स्पष्ट कर दी है। सजीव शरीर में उत्पत्ति यदि मान्य हो तो *'विगतजीव'* ऐसा विशेषण बताना निष्प्रयोजन–निरर्थक ही बन जाएगा। अब यदि कहीं प्रतिबंधक की मौजूदगी में भी कार्य होने लगे नो वहाँ उत्तेजक की मौजूदगी माननी आवश्यक बन जाती है। स्त्रीपुंसंयोग में उत्पन्न होने वाले संमूर्च्छिम मनुष्य के प्रति मनुष्यजन्मस्थानरूप उत्तेजक कार्यरत है। सामान्यतया मनुष्यआत्मा की हाज़री में संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न नहीं होते, परंतु स्त्रीयोनिस्वरूप जो स्थान मनुष्य की उत्पत्ति के लिए, मनुष्यआत्मा के सान्निधान में, निर्मित हुआ है, वहाँ संमूर्च्छिम मनुष्य की भी उत्पत्ति का होना अनुचित नहीं है। आगमकथन के आधार पर उस बात के स्वीकार में कोई बाध जैसा नहीं है। प्रतिबंधक–उत्तेजक की कल्पना से संपूर्ण बात अत्यंत स्पष्ट हो जाती है।

स्त्री–पुरुषसंयोग = शुक्र–शोणितसंयोग वह विलक्षण अवस्था है, मनुष्योत्पत्ति के लिए विशेष अनुकूल है – ऐसा रामलालजी महाराज को भी मान्य करना ही पड़ेगा। अन्यथा, उनके मतानुसार शुक्र–शोणितसंयोग = स्त्री–पुरुषसंयोग ऐसा पद व्यर्थ ही साबित होगा, क्योंकि उनके मतानुसार शरीर के भीतर रहे शुक्र और शोणित में भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मान्य होने से ही, जब **पन्नवणा सूत्रकार** ने शुक्र और शोणित का ग्रहण कर ही लिया है तब शुक्र–शोणितसंयोग को अतिरिक्त दर्शाना अत्यंत अप्रस्तुत ही बना रहेगा... अन्यथा पित्त–कफसंयोगादि अनेक स्थान दर्शाने की आपत्ति आयेगी।

मूल आगमिक परंपरा के अनुसार तो शरीरबहिर्निर्गत अशुचि में

ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होती है। अतः शुक्र और शोणित बहिर्निर्गत अशुचिस्थान के ही वाचक बनते हैं। तथा शुक्र-शोणितसंयोग कथंचित् शरीरअन्तर्गत के रूप में ज्ञात होने से, उसका अतिरिक्त प्रातिस्विक उल्लेख करना आवश्यक है, अन्यथा संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थन के रूप में वह दुर्ज्ञेय है। इति दिक् ।

भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पांचवे उद्देशक में मैथुन के समय जो हिंसा बताई है, वह पंचेन्द्रिय जीवों की है। (यहाँ पंचेन्द्रिय जीव संमूर्च्छिम और गर्भज दोनों प्रकार के संभवित हैं।) व्याख्या-प्रज्ञप्तिवृतिकार का यह कथन इस परिप्रेक्ष्य में विशेष प्रकाशित होगा। इस प्रकरण के विशेष जिज्ञासु तत्-तत् ग्रंथों का अवलोकन कर लें।

❁ संमूर्च्छिम मनुष्य शरीर के बाहर : भगवतीसूत्र

भगवती सूत्र के पांचवे शतक के आठवें उद्देशक में जीवों की संख्या कितने समय तक अवस्थित रह सकती है? वह बताया है।

वहाँ *''संमुच्छिममणुस्साणं अट्ठचत्तालीसं मुहुत्ता, गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं चउव्वीसं मुहुत्ता'' (सू.२२२)* – इस तरह संमूर्च्छिम मनुष्यों की संख्या उत्कृष्ट से ४८ मुहूर्त्त तक अवस्थित रहती है और गर्भज मनुष्यों की संख्या उत्कृष्ट से २४ मुहूर्त्त तक अवस्थित रहती है – वैसा बताया है।

यदि शरीर के भीतर रहे रक्त-मलादि में भी संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति निरंतर मानी जाए तो गर्भज मनुष्य की संख्या बढने पर उनके शरीर में भी संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति होने से संमूर्च्छिम मनुष्य की संख्या में भी बढौती हुई-वैसा रामलालजी महाराज को मानना ही रहा। अतः संमूर्च्छिम मनुष्यों की अवस्थित (= वृद्धि-

हानिरहित) संख्या तो गर्भज मनुष्य की संख्या जब तक अवस्थित रहे तब तक ही अथवा तो उससे कम समय तक ही रह सकेगी। लेकिन भगवती सूत्र में तो संमूर्च्छिम मनुष्यों की अवस्थित संख्या गर्भज मनष्य की अवस्थित संख्या से अधिक समय (=दुगुने समय) तक बताई है।

यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शरीर से बाहर निकले मलादि अशुचिस्थान में ही मान्य की जाए तो अशुचिस्थान की संख्या ४८ मुहूर्त तक वृद्धि-हानिरहित एक समान अवस्थित टिकी रहे (नए मल-मूत्रादि आए और पुराने सूख जाए इत्यादि विचारणा द्वारा) वह बात संभवित हो सकती है। परिणामतः, संमूर्च्छिम मनुष्य की संख्या एक समान अवस्थित रहे-वैसी बात शक्य बन सकेगी। आगमिक सिद्धांत अनुसार, गर्भज मनुष्य की संख्या की वृद्धि में भी संमूर्च्छिम मनुष्य की संख्या में कोई फर्क नहीं पड़ेगा, क्योंकि संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति गर्भज मनुष्य में से बाहर निकले हुए अशुचिरूप स्थान के साथ संलग्न है, न कि गर्भज मनुष्य के साथ।

हृदय को झकझोर कर इस सूत्र के तात्पर्य की विचारणा करेंगे तो 'संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शरीर से बाहर निकले मलादि में ही होती है' - इस बात में आगमिक संमति का होना अवश्य ज्ञात होगा।

इस बाबत पर सूक्ष्म और गंभीर विचारणा आवश्यक है। इस विषय में किसी भी प्रकार की त्वरित प्रतिक्रिया दर्शाने के बजाय शांत चित्त से विचारणा कर्तव्य है। अनेक प्रश्न उठ खड़े हो सकते हैं। साथ साथ उनके समाधान भी प्रस्तुत सूत्र के व्याख्याग्रंथों का एवं पन्नवणासूत्र का एकसाथ तलस्पर्शी अध्ययन करने से मिल जाए वैसे हैं।

एक बात समझ लें कि *"न हि अदृष्टं दृष्टं विना प्रवर्त्तते।"* अदृष्ट, लोकस्थिति वगैरह द्वारा होने वाले कार्य भी किसी न किसी दृष्ट

कारण का सहारा अवश्य लेते हैं। अतः तर्कपूतप्रज्ञासंपन्न प्राज्ञ सर्वदा ऐसी ही कल्पना का स्वीकार करेगा कि जिसमें दृष्ट कारणों का सहारा मिलता रहे। दृष्ट कारण अत्यंत प्रतिकूल होने पर भी सिर्फ अदृष्ट के आधार पर होने वाली परिकल्पनाओं से वह दूर रहता है, यदि वह अत्यंत निराधार और सिर्फ अपनी मान्यता के आधार पर परिकल्पित हो तो।

यह बात तो निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो रही है कि शरीर के बाहर ही रहे हुऐ रक़्त वगैरह संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के कारण बन सकते हैं। संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के स्थान के रूप में जल्ल = शरीर का मैल, कान-नाक वगैरह के मैल को भी स्थान मिला है। क्या ये सब शरीर के अंदर संभवित हैं? पसीना, जो संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति का कारण है, वह शरीर के अंदर संभवित है या बाहर?

❁ जीवाभिगम संग्रहणी प्रकरण का संदर्भ

प्राचीन आचार्य विरचित **जीवाभिगम संग्रहणी** ग्रंथ में संमूर्च्छिम मनुष्य को संलग्न कुछ श्लोक दिए गए हैं :

"अंतो मणुस्सखित्ते अड्ढाईदीववारिनिहिमज्झे।
पन्नरसकम्मभूमीसु तीसाइ अकम्मभूमीसु ।। १५९।।
छप्पन्नाए अंतरदीवेसुं गब्भया य जे मणुआ।
तेसिं उच्चारेसुं पासवणेसुं च खेलेसुं ।। १६०।।
सिंघाणएसु वंतिसु पित्तेसु च सोणिएसु सुक्केसु ।
तह चेव सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु व मयगेसु ।।१६१।।
*थीनरसंजोगेसु व पुरनिद्धमणेसु **जल्ल** तह चेव ।*
सव्वासुइठाणेसु वि संमूच्छिममाणुसा हुंति।।१६२।।

यहाँ हम देख सकते हैं कि जल्ल = शरीर के मैल को भी संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्तिस्थान के रूप में बताया है। तथा यह बात उचित भी है, क्योंकि गर्भजमनुष्यसंबंधी अशुचित्व के रूप में उसका भी संग्रह यहाँ आवश्यक है।

भगवती आराधना (गा.४४८) की **विजयोदया वृत्ति** में स्पष्ट बताया है कि – *''चक्रिस्कन्धावारप्रस्रवोच्चारभूमयः शुक्रसिंहाणकश्लेष्म-कर्णदन्तमलानि चाङ्गुलाऽसङ्ख्यातभागमात्रशरीराणां सम्मूर्च्छिमानां जन्मस्थानानि।''* यहाँ उच्चार = प्रस्रवण की (= मल-मूत्र की) भूमि को = जहाँ मल-मूत्र पड़े रहते हो, इकट्ठे हो वैसी भूमि को, कान-दांत के मैल को भी संमूर्च्छिम के जन्मस्थान के रूप में बताए हैं। ये सभी शरीर के बाहर रहने वाले हैं। इस तरह प्राचीन परमर्षि शरीरनिर्गत ऐसे ही मल-मूत्रादि को संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थान के रूप में मानते आए हैं और वैसा प्रतिपादन करते आए हैं।

कफ, रक्त, उच्चार-प्रस्रवण (= मल-मूत्र) वगैरह चीज़ों को संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थान के रूप में बताने के बाद वे जिन स्थानों में इकट्ठे होते हैं वैसे नगर की गटर आदि को भी, अतिरिक्त उल्लेखनीय गिन कर सूत्र में दर्शाया गया है। वह इस बात को सूचित करता है कि नगर की गटर (नाला) वगैरह में मल-मूत्रादि सूख जाए वैसी संभावना नहींवत् होने से, पानी आदि के संसर्ग से सतत आर्द्र रहने से उनमें संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति संभवतः सतत चालु रहती है। आर्द्र मल-मूत्र, गटर वगैरह में लोकस्थिति के अनुसार, कभी-कबार संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति न हो वैसा भी संभवित है (पन्नवणा – ६/१२३)। परंतु संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति जब कभी भी हो तब आर्द्र मल-मूत्रादि में ही होती है और दो घटिका के बाद (देखिए पृष्ठ-१२) ही होती है, इतना तो उपर्युक्त विमर्श से निश्चित समझना ही

:))रहा।

इस तरह आगमों का एवं प्राचीन परंपराओं का अत्यंत तटस्थतया और सूक्ष्मतया निरीक्षण करने से यह बात अपने आप सिद्ध होती है कि प्रज्ञापनासूत्रकार आदि को, शरीर में से बाहर निकले हुए मल-मूत्रादि अशुचि पदार्थों को संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थान के रूप में बताना अभिप्रेत है।

इस तरह, रामलालजी महाराज द्वारा पेश किए गए चारों विचारबिंदु आगम की कसौटी पर से पार उतर सके वैसे नहीं हैं। अतः वे निराधार साबित होते हैं। तदुपरांत, तर्क की कसौटी को भी वे सहन नहीं कर सकते। अन्य अनेक आगमिक साबिति और तर्क हमें उस दिशा की ओर ले जाते हैं कि जहाँ 'शरीर से बाहर निकले हुए मल-मूत्र में ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति बताने का शास्त्रकारों को अभिप्रेत है' - यह सत्य सदा प्रतिष्ठित रूप में झिलमिला रहा है।

शरीर के बाहर रहे हुए मल आदि में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति का स्वीकार करना वह आगम-परंपरा-तर्क से सिद्ध और प्रतिष्ठित सत्य की पूजा करने समान है - वह निःशंक है।

✿ पन्नवणा का तात्पर्यार्थ : शरीर के बाहर ही संमूर्च्छिम की उत्पत्ति

'संमूर्च्छिम मनुष्यों की हमारी कायिक हिल-चाल से विराधना संभवित नहीं' - इस मान्यता की नींव 'शरीर के भीतर रहे मलादि में भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति सतत प्रवर्तमान ही रहती है' - यह मान्यता थी। जब बुनियादी मान्यता ही निराधार बनती है तब उसके आधार पर उत्पन्न हुई दूसरी मान्यता भी स्वतः विध्वस्त और निरस्त होती है।

तथापि रामलालजी महाराज ने जो सबूत पेश किए हैं उनका

मध्यस्थ दृष्टि से परीक्षण करें, जिससे आगमिक दृष्टिकोण स्पष्ट बने और तत् तत् सूत्रों के मार्गस्थ रहस्य हाथ लग जाए।

B क्रमांक विचारबिंदु की भूमिका में रामलालजी महाराज 'संमूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना हमारी कायिक प्रवृत्ति द्वारा संभवित नहीं' – वैसा बता रहे हैं।

❁ पंचेन्द्रिय होने पर भी संमूर्च्छिम मनुष्य हिंस्य क्यों नहीं?

सहज प्रश्न होता है कि संमूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना किन कारणों से नहीं होती ? आखिर वे भी पंचेन्द्रिय, त्रस, बादर जीव ही हैं। उनकी हिंसा हमारी कायिक प्रवृत्ति से न होने का आखिर में प्रयोजक कौन है? सूक्ष्मनामकर्म के उदय की परिणतिस्वरूप सूक्ष्मत्व जिस जीव में हो उस जीव की हिंसा नहीं हो सकती, क्योंकि वे बहुत सारे इकट्ठे हो तो भी उपघात या अनुग्रह का विषय न बने वैसे सूक्ष्म होने के कारण शस्त्रादि का विषय नहीं बन सकते।

तत्त्वार्थसूत्र (८/११) के **राजवार्त्तिक** में इस तथ्य को अत्यंत स्पष्ट करते हुए बताया है कि :

''यदुदयादन्यजीवानामुपग्रहोपघाताऽयोग्यसूक्ष्मशरीरनिर्वृत्ति-र्भवति तत् सूक्ष्मनाम ।''

इस तरह, सूक्ष्मनामकर्मोदयप्रयुक्त सूक्ष्मत्व होने से सूक्ष्म पृथ्वीकायादि स्थावर एकेन्द्रिय जीवों का हिंसा के लिए अयोग्य होना – यह बात शास्त्रीय है। परंतु संमूर्च्छिम मनुष्य तो त्रस, बादर, पंचेन्द्रिय और मनुष्य हैं। तो फिर वे हिंसा के लिए योग्य क्यों नहीं ?

यदि यहाँ ऐसा विचार उठ रहा हो कि 'संमूर्च्छिम मनुष्य का शरीर अत्यंत छोटा है। वह बादर होने पर भी अत्यंत अल्प-लघु, चर्मचक्षु से अग्राह्य होने से, सूक्ष्म शरीर की मफ़िक ही अहिंस्य है,

अप्रतिघात्य है।'

तो यह विचार भी शास्त्र और तर्क की परीक्षा में अनुत्तीर्ण ही रहेगा, क्योंकि बादर शरीर अल्प-लघु होने पर भी उसे प्रतिघात्य मानना ही उचित साबित होता है। इस विषय में **गोम्मटसार जीवकांड** में उपयोगी गाथा १८३ इस प्रकार है :

''बादर-सुहुमुदयेण य बादर-सुहुमा हवंति तद्देहा।
घादसरीरं थूलं अघाददेहं हवे सुहुमं।।''

अर्थात् बादर नामकर्म के उदय से जीव का शरीर बादर होता है और सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जीव सूक्ष्म शरीर को प्राप्त करता है। पर से उपघात पा सके वैसा स्थूल शरीर बादर है और अन्य से उपघात पा न सके वैसा शरीर सूक्ष्म है।

गोम्मटसार की प्राचीन **कर्णाटी** व्याख्या का अनुसरण करने वाली प्राचीन **तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति** में इस बात को अत्यंत स्पष्ट करते हुए बताया है कि :

''परेण स्वस्य स्वेन परस्य वा प्रतिघातसम्भवात् घातशरीरं स्थूलं भवति, अघातदेहः सूक्ष्मः (सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्ती) भवति।'' (गा. १८३ वृ.)

''बादराणां पुनः अल्पशरीरत्वेऽपि बादरनामकर्मोदयवशाद् अन्येन प्रतिघातो भवत्येव।'' (गा. १८४ वृ.)

लघु शरीर होने पर भी बादर जीवों के शरीर का प्रतिघात होता ही है - ऐसे अत्यंत स्पष्ट कथन से फलतः संमूर्च्छिम मनुष्य को बादर मानने पर भी उसे अहिंस्य मानने की बात को अशास्त्रीय एवं अतार्किक सिद्ध की है, अनुचित बताई है।

शांत और स्थिर अनुप्रेक्षण से यह ज्ञात होता है कि 'संमूर्च्छिम मनुष्य अपनी कायिक प्रवृत्ति से हिंस्य नहीं' - ऐसी रामलालजी की बात किसी भी प्रकार से आगमिक और तार्किक कसौटी सहन नहीं कर

सकती।

आचारांगसूत्र (श्रु.१/अ.१/उ. ६/सू. ४९) में परमात्मा ने स्पष्ट फरमाया है कि : *"से बेमि – संतिमे तसा पाणा – अंडया पोतया जराउया रसया संसेयया सम्मुच्छिमा उब्भिया उववातिया ।*

एस संसारे त्ति पवुच्चति मंदस्स अवियाणओ।.....

तं परिण्णाय मेधावी णेव सयं तसकायसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकायसत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे तसकायसत्थं समारभंते समणुजाणेज्जा।"

अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, संमूर्च्छिम वगैरह रूप त्रस जीव होते हैं। इन सबको जान कर पंडित–मेधावी उनकी हिंसा से त्रिविध–त्रिविध निवृत्त हो – ऐसा बता कर स्पष्टतया संमूर्च्छिम की हिंसा का निषेध किया है। तब हम किस आधार पर संमूर्च्छिम मनुष्य को अहिंसनीय जाहिर कर सकते हैं? जिसकी हिंसा शक्य हो उसकी हिंसा का निषेध मोक्षमार्ग में उपयोगी बनता है। जिसकी हिंसा हमारे द्वारा शक्य ही न हो उसकी हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश अनावश्यक बन जाता है। आकाश की हिंसा से प्रत्यावृत्त होने की बात शास्त्रकार कभी नहीं करते। उपर्युक्त आचारांगसूत्र में तो संमूर्च्छिम की हिंसा का स्पष्ट निषेध किया ही है।

श्रीरामलालजी महाराज ने अनेकत्र जोर–शोर से उद्घोषणा की है कि : "संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शरीर के बाहर ही, मुहूर्त्त के बाद ही होती है – ऐसा स्पष्ट उल्लेख आगम में तो नहीं है, प्रत्युत आगमों के प्राचीन व्याख्यासाहित्य में और इतर शास्त्रग्रंथों में कहीं भी नहीं मिलता।"

प्रस्तुत लेख में निशीथसूत्र की प्राचीन व्याख्या का तथा तद्आधारित प्राचीन शास्त्रग्रंथ का वैसा स्पष्ट पाठ हम देने वाले ही हैं।

(देखिए पृष्ठ – ५८) एवं इस बाबत को तो सुविहित प्राचीन परंपरा का भी प्रबल सहारा है।

अब हम रामलालजी को कहना चाहते हैं कि 'सूक्ष्म जीव अपनी कायिक प्रवृत्ति से विराध्य नहीं' – इस प्रकार का जैसे शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख मिलता है उस तरह, 'संमूर्च्छिम मनुष्य अपनी कायिक प्रवृत्ति से विराध्य नहीं' – वैसा स्पष्ट पाठ चारों संप्रदाय के किसी भी प्राचीन ग्रंथों में से पेश करें...। अहिंसा के प्रमुख सिद्धांत से गुम्फित और अहिंसा की सूक्ष्मतम सावधानी दर्शाने वाले अपने शासन में जो जीव अपनी कायिक प्रवृत्ति से अहिंस्य हो उसका उल्लेख अवश्य होगा ही... अन्यथा उसे अवश्य हिंस्य मानना चाहिए। अतः रामलालजी महाराज को नम्र विज्ञप्ति है – संमूर्च्छिम मनुष्य अपनी कायिक प्रवृत्ति से अविराध्य होने का स्पष्ट पाठ पेश करें... बाद में ही किसी भी प्रकार की प्ररूपणा करें। जब तक संमूर्च्छिम मनुष्य अहिंस्य होने का स्पष्ट पाठ न मिले तब तक संमूर्च्छिम मनुष्य को संलग्न नइ मान्यता का प्रचार संपूर्णतः स्थगित कर दें – इसीमें उनकी भलाई है। तथा रामलालजी महाराज के पास अपेक्षा भी यही है, क्योंकि वे तो अत्यंत नवीन, जिसका किसी भी परंपरा में उल्लेख नहीं वैसी, बात कर रहे हैं। वह बात निराधार कैसे मान्य बन सकती है?

परंपरा से चली आ रही बात के भी स्पष्ट साक्षी पाठ वे यदि माँग रहे हो तो अपनी नूतन प्ररूपणा के दर्शक ऐसे भी स्पष्ट और प्रामाणिक सबूत–पाठ उन्हें भी पेश करने ही चाहिए। उसके बिना वे जितने भी तर्क पेश करें वे सभी बेबुनियादी महल ही साबित होने वाले हैं।

सचमुच तो जीवदया से भावित ऐसे साधु का अंतःकरण संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए सदैव समुत्सुक और जागरूक ही होता है। संमूर्च्छिम मनुष्य से संसक्त ऐसी अशुचि से वे दूर ही रहते हैं।

उनकी विराधना से बचने का हरदम प्रयास करते हैं। *''णवणीयतुल्लहियया साहू''* – इस प्रकार साधु के हृदय को मक्खन की उपमा **व्यवहारसूत्र भाष्य** (७/२१५) में यूँ ही थोड़ी दी गई है?

❀ निशीथसूत्र के अर्थघटन की दो परंपरा

B-1 क्रमांक विचारबिंदु में रामलालजी महाराज निशीथसूत्र के एक सूत्र को पेश कर के वैसा फलित करने का प्रयास करते हैं कि पूरी रात मल-मूत्र रखने का विधान होने से संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना नहीं होती। यही बात उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने विचारबिंदु में सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। साथ में परिशिष्ट में इस सूत्र के पाठ को ले कर भी हस्तप्रत आदि के आधार से मीमांसा पेश की है। इस विषयक वास्तविकता समझने के लिए हमें विस्तारपूर्वक मूल से ही पूरी बात समझनी पड़ेगी।

सबसे पहले तो सूत्र को देख लें :

(निशीथसूत्र – तृतीय उद्देशक, अंतिम सूत्र)

''जे भिक्खू राओ वा वियाले वा उच्चार-पासवणेणं उब्बाहिज्जमाणे पादं गहाय, परपायं वा जाइत्ता उच्चार-पासवणं करेति, जो तं अणुग्गते सूरिए एडति, एडंतं वा साइज्जति, तं सेवमाणे आवज्जति मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइमं।''

इस सूत्र के अर्थघटन के विषय में दो भिन्न-भिन्न मान्यताएँ प्राचीन परंपरा से चली आ रही है।

निशीथसूत्र के **भाष्य-चूर्णि** में अनुद्गतसूर्य का अर्थ क्षेत्रपरक होने का संकेत नहीं मिलता। दूसरी परंपरा में अनुद्गतसूर्य का अर्थ क्षेत्रपरक (= जिस क्षेत्र में सूर्य के किरण पहुँचते न हो वैसा क्षेत्र) बताया है।

इन दोनों मान्यता के अनुसार संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना अशक्य होने की बात किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकती। इस बात को मूल से देखें।

निशीथसूत्र का तात्पर्यार्थ यह है कि संध्या समय में, कि जब अंधेरा फैल रहा हो, तथा रात्रि के समय में लघुशंका या दीर्घशंका से पीडित हुआ श्रमण अपने या अन्य के मात्रक में मल-मूत्र कर सकता है और बाहर (उपद्रवों की संभावना में) सूर्योदय न हो तब तक मल-मूत्र परठने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है।

❁ अन्यान्य संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में निशीथसूत्र का दोहन

इस सूत्र का तात्पर्यार्थ ऐसा नहीं है कि श्रमणों को रात्रि के समय मल-मूत्र परठने का निषेध है। यह सूत्र कारणिक है, आपवादिक है। रात्रि के समय श्रमण मल-मूत्रादि परठने न जाए, मात्रक में ही रख दे - वैसा शास्त्रकारों को अभिप्रेत नहीं है। इस बात के मुख्य साक्षी संध्याकाल में उच्चार-प्रश्रवण परठने की भूमि का प्रतिलेखन न करने में प्रायश्चित्त का विधान करने वाले **निशीथसूत्र** के चौथे उद्देशक (सूत्र-१०२+१०३) के दो सूत्र हैं। सूत्रद्विक इस प्रकार है :

"जे भिक्खू साणुप्पए उच्चार-पासवणभूमिं ण पडिलेहेति, ण पडिलेहंतं वा सातिज्जति,

जे भिक्खू तओ उच्चार-पासवणभूमीओ ण पडिलेहेइ, ण पडिलेहंतं वा सातिज्जति ।"

सानुप्रग् = दिन की चरमपौरुषी का चौथा भाग शेष हो तब *(चउभागावसेसचरिमाए)* अर्थात् संध्या के प्रारंभ में जब प्रकाश पर्याप्त प्रमाण में हो तब तीन-तीन उच्चार-प्रस्रवण की वसति न देखने वाले भिक्षु को प्रायश्चित्त फरमाया गया है। ये वसतियाँ निवेशनक के अंदर

और बाहर, आसन्न-मध्यम-दूर इस प्रकार प्रतिलेखित करनी है।

इस तथ्य को सुस्पष्ट करते हुए **निशीथचूर्णि** (गा.१८६०) में बताया है कि : *''अंतो णिवेसणस्स काइभूमिओ अणहियासियाओ तिन्नि - आसन्न मज्झ दूरे। अहियासियाओ वि तिन्नि - आसन्न मज्झ दूरे। एया काइयभूमीओ । बहिं णिवेसणस्स एवं चेव छ काइभूमीओ, एवं पासवणे बारस। सण्णाभूमीओ वि बारस, एवं च ताओ सव्वाओ चउव्वीसं ।''*

अर्थात् तीव्र वेग न हो तब जा सकें वैसी तीन वसति आँगन/मोहल्ले के अंदर और बाहर। उसी तरह तीव्र वेग हो तब समय पर पहुँच सकें वैसी तीन-तीन वसतियाँ निवेशनक के अंदर और बाहर प्रतिलेखित करें। यह विधान स्पष्टतया सूचित करता है कि सूर्यास्त के बाद भी मल-मूत्रपरिष्ठापन निषिद्ध नहीं है। अन्यथा वसति देखने की बात ही असंगत हो जाएगी। सूर्यास्त के बाद यदि मात्रक में मल-मूत्र कर के रखने ही हो तो मल-मूत्रादिविसर्जन के लिए वसति का प्रतिलेखन ही क्यों करना ? वसति देखने का विधान ही निरर्थक साबित होगा।

निशीथसूत्र का प्रस्तुत तृतीय उद्देशक का सूत्र कारणिक है वह बात स्वयं रामलालजी महाराज स्वीकारते ही हैं। देखें उनके ही शब्द : *''सूर्यास्त के पूर्व उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन करते हैं एवं रात्रि या विकाल में बाधा होने पर उस भूमि पर जाकर ही उच्चार-प्रस्रवण का विसर्जन करते हैं। कदाचित् बाहर जाकर मल-मूत्र विसर्जन की स्थिति न हो तो ...''* इस तरह, प्रस्तुत सूत्र का कारणिक होना जब रामलालजी महाराज स्वीकारते ही हैं तब उस कारणिक सूत्र के द्वारा संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना अशक्य होना कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? प्रायशः कारणिक का मतलब ही है अल्प विराधना का स्वीकार कर के बड़ी विराधना से बचने का विधान। तो फिर संमूर्च्छिम मनुष्य की अल्प भी

विराधना नहीं होने की बात उस सूत्र के द्वारा कैसे फलित हो सकती है? 'बिलकुल विराधना ही न हो वैसी ही बाबत का विधान अपवाद पद में भी शास्त्रकार करते हैं' – वैसी बात तो आगमअनभिज्ञ पुरुष ही कर सकता है, क्योंकि यथाअवसर बड़ी विराधना से बचने के लिए अल्प सावद्यक्रिया की अनुज्ञा शास्त्रकारों ने अनेकत्र दी है।

प्रस्तुत में ऐसा मंतव्य पेश किया जाता है कि – ''प्रस्तुत सूत्र को कारणिक किस अंश में कहना है? (१) मात्रक में लघुशंकादि करने का प्रसंग है – उस अपेक्षा से या (२) पूरी रात मूत्रादि रखने का विधान है – उसे उद्देश्य कर के? प्रथम विकल्प तो हमें मान्य ही है। द्वितीय विकल्प अप्रामाणिक है। हकीकत में पूरी रात मूत्रादि को रखना वह उत्सर्गमार्ग है, क्योंकि रात्रि के समय मूत्रादि का परिष्ठापन वह अपवाद है।''

परंतु इस बात का आगम के साथ विरोध आता है। सायंकाल में वसतिप्रतिलेखन करने की बात, उभयपक्ष के लिए, इतना तो सिद्ध कर ही देती है कि रात्रि के समय मल–मूत्रादि परिष्ठापन वगैरह करने के लिए बाहर जाना तो है ही – उत्सर्गतः ! विवाद सिर्फ इतना ही है कि मात्रक में किए हुए मल–मूत्रादि रात्री के समय बाहर परिष्ठापन के लिए न जाना वह उत्सर्ग है या अपवाद? हमारा जवाब है : अपवाद। रामलालजी महाराज उसे उत्सर्ग बताते हैं।

अब ध्यान से पढिए : यदि मात्रक में रखे हुए मूत्रादि के परिष्ठापन के लिए रात को बाहर न जाना वह उत्सर्ग हो, तो फिर उसका फलितार्थ ऐसा निकलेगा कि – रात्रि के समय, बिना मात्रक के, Direct मूत्रादि शंकानिवारण के लिए जाना वह उत्सर्ग, परंतु मात्रक में किए हुए मूत्रादि के परिष्ठापन हेतु बाहर जाना वह उत्सर्ग नहीं, परंतु अपवाद ! कैसा परस्पर व्याहत होने वाला यह कथन है ? यदि रात्रि के

समय Direct मूत्रादि करने के लिए बाहर जाना शास्त्रकारों को उत्सर्गतः इष्ट हो तो मात्रक में किए हुए मूत्रादि के परिष्ठापन हेतु बाहर जाना शास्त्रकारों को उत्सर्गतः इष्ट क्यों नहीं बन सकता? रात्रि के समय परिष्ठापन हेतु बाहर जाने की बात को ले कर उत्सर्ग-अपवाद की व्यवस्था बदल जाए वैसा कोई तफ़ावत उक्त दो घटनाओं में है ही नहीं। मात्रक में किए हुए मूत्रादि रात को बाहर परठने में चौरादि के भय हो तो क्या वैसे भय Direct मूत्रादि करने के लिए बाहर जाने में अपने आप खिसक जाएँगे?

अतः शास्त्रकारों के आशय की, अपनी मान्यता की दिशा में खिंचातानी न करें तो स्पष्ट ख्याल आ जाता है कि रात्रि के समय बाहर जाने में कायम भयादि जोखिम होते ही हैं – वैसा नहीं है। सामान्य भयस्थानों का निवारण तो **बृहत्कल्पसूत्र** के प्रथम उद्देशक के ४८ + ४९ सूत्र में दर्शितरीत्या २-३ साधुओं के एकसाथ जाने से शक्य है। अतः उत्सर्गमार्ग यह है कि साधु भगवंत को रात्रि के समय भी मूत्रादि परिष्ठापन के लिए बाहर जाना चाहिए।

जब मात्रक का उपयोग किया गया हो तब स्पष्ट है कि कोई आपवादिक परिस्थिति उठ खड़ी हुई है। किसी भी कारणवश बाहर Direct मूत्रादि शंकानिवारण के लिए जाना अशक्य हो तभी तो मात्रकादि का उपयोग किया गया है। अतः वैसे समय में रात्रि को बाहर परिष्ठापन के लिए जाना प्रबल आत्मविराधनादिरूप दोषों का कारण है। अतः उसका निषेध कर के सुबह के समय परठने का विधान प्रस्तुत **निशीथसूत्र** में किया है। मात्रकस्थ मूत्र के परिष्ठापन की अपेक्षा वह विधान उत्सर्ग होने पर भी वस्तुतः वह अपवाद है। अनेकांत दृष्टि के बिना शीघ्रतया यह तत्त्व समझ में नहीं आएगा।

जब शास्त्रकारों को रात्रि के समय परिष्ठापन हेतु के लिए बाहर

जाने का निषेध करना हो तब बाहर परिष्ठापन हेतु जाने में लगते आत्मविराधनादि दोष बताना ही प्रस्तुत कहा जाता है। पूरी रात मूत्रादि को रखने में लगते संमूर्च्छिमविराधनादि दोष बताना बिलकुल प्रस्तुत नहीं कहा जाता। इसलिए 'यहाँ कहीं भी संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना का उल्लेख नहीं किया है। अतः संमूर्च्छिम मनुष्यों को विराध्य मानने की परंपरा आगमिक नहीं' – वैसी उद्घोषणा करना आशयग्राही मनीषी के लिए बिलकुल उचित नहीं।

अत एव यदि ग्लानादि कारणवश मात्रक का उपयोग किया गया हो, रात्रि के समय २–३ साधु एकसाथ बाहर परठने जाए तो कोई दोष–भय की संभावना न हो, अर्थात् बाहर कोई हिंसक प्राणी, चौर वगैरह का भय न हो, तथापि सावधानी के तौर पर २–३ साधु भगवंत मात्रक परिष्ठापन के लिए बाहर जाए तो शास्त्रकारों को कोई तकलीफ नहीं है, प्रत्युत इष्ट ही है। निरर्थक विकल्पजाल खड़ी कर के शास्त्रकार के मूलभूत आशय को छोड़ कर परिधि में भटकते रहना वह साधक मनीषी के लिए अनुचित है।

❀ निशीथसूत्र का तारण

उपर्युक्त विचारणा के अनुसार तीसरे उद्देशक के उस सूत्र के विषय में सूत्रकार महर्षि भगवंत का आशय स्पष्ट है कि जब बाहर परठने हेतु जाने में दोष हो, तकलीफ हो, उपद्रव हो तब बाहर न निकलें। परंतु जिस मात्रक में मल–मूत्र विसर्जन किए हैं उसे रख दें। संयमविराधना की अपेक्षा आत्मविराधना अधिक बड़ा दोष होने से उससे बचने के लिए छोटे दोष का सेवन अपवाद पद को आश्रय कर के बताया है। अतः *''शास्त्रकारों ने संपूर्ण रात्रि मल–मूत्र को मात्रक में रखने का फरमान किया है। अतः 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना*

शक्य है' वैसा शास्त्रकारों को मान्य नहीं'' – ऐसी बात बिलकुल सिद्ध नहीं होती। बाहर उपद्रव होने के समय आपवादिक विधान है – मल–मूत्र को मात्रक में स्थापित कर रखना। निशीथ के पूर्वोक्त (४/१०२–१०३) दो सूत्रों के साथ निशीथ तृतीय उद्देशक के अंतिम सूत्र की तुलना करने पर शास्त्रकार भगवंत का आशय स्पष्टतया ख्याल में आ जाएगा। अतः उस प्रकार से भी संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना न होने की बात किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होती।

❁ निशीथसूत्र के प्रस्तुत सूत्र के अर्थघटन विषयक अन्य प्राचीन परंपरा

इस सूत्र संबंधी ओर भी एक प्राचीन परंपरा देख लें कि जिससे इस सूत्र का अर्थघटन स्पष्ट होने से संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक तथ्य अधिक स्पष्ट होगा। श्रीरामलालजी महाराज ने प्रस्तुत सूत्र में *'दिया वा'* पाठ नहीं है – वैसा हस्तप्रति के आधार से परिशिष्ट में बताया है। परंतु हम देख चुके कि *'दिया वा'* पाठ न रखने पर भी संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना विषयक तथ्य में कुछ भी फर्क नहीं पड़ता।

तथा स्थानकवासी परंपरा के प्रमुख विवेचन में *'दिया वा'* पाठ का स्वीकार कर के अनुवाद किया गया है। तथा *'दिया वा'* पाठ की संगति *'अणुग्गए सूरिए'* पद को क्षेत्रपरक मानने में ही होने की बात उन विवेचनकारों ने प्रतिपादित की है। रामलालजी महाराज *'दिया वा'* पाठ मूलसूत्र का घटक नहीं है–वैसा बताते हैं। अतः *'अणुग्गए सूरिए'* पद को क्षेत्रपरक मानने की बात को निराधार बताते हैं। परंतु हक़ीक़त यह है कि *'दिया वा'* पाठ की संगति के उपरांत दूसरे भी तर्क एवं आगमिक प्रमाण विवेचनकारों ने अनुद्गतसूर्य का अर्थ क्षेत्रपरक सिद्ध करने के लिए दिए हैं।

तथा रामलालजी महाराज की 'अनुद्गतसूर्य = जहाँ सूर्य के

किरण न पहुँचे वैसा क्षेत्र – इस अर्थ को किसी भी प्राचीन व्याख्या का आधार नहीं है' – यह बात भी समूची बेबुनियाद है, निराधार है। सबसे पहले अलग-अलग विवेचन देख लें।

❁ निशीथसूत्र के भिन्न-भिन्न विवेचन

✿ स्थानकवासी संप्रदाय :

युवाचार्य **श्रीमधुकरमुनि** के प्रधान संपादक की राहबरी तले श्रीआगमप्रकाशन समिति, ब्यावर से प्रकाशित **निशीथसूत्र** अनुवाद-

''जो भिक्षु दिन में, रात्रि में, या विकाल में उच्चार-प्रस्रवण के वेग से बाधित होने पर अपना पात्र ग्रहण कर या अन्य भिक्षु का पात्र याच कर उसमें उच्चार-प्रस्रवण का त्याग कर के जहां सूर्य का प्रकाश (ताप) नहीं पहुँचता है ऐसे स्थान में परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता है।

इन ८० सूत्रगत दोषस्थानों का सेवन करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

***विवेचन :- 'अणुग्गए सूरिए'** इसका सीधा अर्थ 'सूर्योदय के पूर्व नहीं परठना' ऐसा भी किया जाता है, किन्तु यह अर्थ आगमसम्मत नहीं होने से असंगत है। उसके कारण इस प्रकार हैं –*

*सूत्र में प्रयुक्त **'दिया वा'** शब्द निरर्थक हो जाता है। क्योंकि*

१. *दिन में जिसने मलत्याग किया है उसकी अपेक्षा से 'अणुग्गए सूरिए' इस वाक्य की संगति नहीं हो सकती है।*
२. *रात में मल-मूत्र पडा रखने से सम्मूर्च्छिम जीवों की विराधना होती है और अशुचि के कारण अस्वाध्याय भी रहता है।*
३. *रात्रि में परठने का सर्वथा निषेध हो जाता है।*

४. उच्चार-प्रश्रवण भूमि का चौथे प्रहर में किया गया प्रतिलेखन भी निरर्थक हो जाता है।

५. अनेक आचारसूत्रगत निर्देशों से भी यह अर्थ विपरीत हो जाता है।

अतः 'जहां पर सूर्य नहीं उगता' अर्थात् जहां पर दिन या रात में कभी भी सूर्य का प्रकाश (ताप) नहीं पहुँचता है ऐसे छाया के स्थान पर परठने का यह प्रायश्चित्त सूत्र है, ऐसा समझना युक्तिसंगत है।

उच्चार-प्रश्रवण को पात्र में त्याग कर परठने की विधि का निर्देश **आचारांग श्रु.२, अ. १०** में तथा इस सूत्र में है। फिर भी अन्य आगम स्थलों का तथा इस विधान का संयुक्त तात्पर्य यह है कि -

योग्य बाधा, योग्य समय व योग्य स्थंडिल भूमि सुलभ हो तो स्थंडिल भूमि में जाकर ही मल-मूत्र त्यागना चाहिये । किन्तु दीर्घशंका का तीव्र वेग हो या कुछ दूरी पर जाने आने योग्य समय न हो, यथा संध्याकाल या रात्रि हो, ग्रीष्मऋतु का मध्याह्न हो या मल-मूत्र त्यागने योग्य निर्दोष भूमि समीप में न हो इत्यादि कारणों से उपाश्रय में ही जो एकान्त स्थान हो वहाँ जाकर पात्र में मलत्याग करके योग्य स्थान में परठा जा सकता है।

सूत्र ७१ से ७९ तक अयोग्य स्थान में परठने का प्रायश्चित्त कहा गया है - जिसमें पृथ्वी, पानी की विराधना व देवछलना, स्वामी के प्रकोप, लोकअपवाद होने की संभावना रहती है। इस सूत्र ८० के अनुसार उपरोक्त स्थानों का वर्जन करने के साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि परठने के स्थान पर सूर्य की धूप आती है या नहीं, धूप न आती हो तो जल्दी नहीं सूखने से सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति होकर ज्यादा समय तक विराधना होती है। इस हेतु से अविधि परिष्ठापन का सूत्र में प्रायश्चित्त कहा गया है।

यदि किसी के अशुचि में कृमियाँ आती हों तो छाया में बैठना चाहिये या कुछ देर (१०-२० मिनट) बाद परिष्ठापन करना चाहिये।''
(पृ. ९३-९४)

● **लीलमबाई महासतीजी की निश्रा में**

'गुरुप्राण फाउन्डेशन' द्वारा प्रकाशित **निशीथसूत्र** अनुवाद -

''जो साधु या साध्वी दिन में, रात्रि में या संध्या समय में उच्चार-प्रस्रवण की बाधा हो तब अपने पात्र को ग्रहण कर के अथवा अन्य साधु के पात्र की याचना कर के, उसमें उच्चार, प्रस्रवण कर के जहाँ सूर्य का ताप पहुँचता न हो वैसे स्थान में परठे या परठने वाले का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।''

इस उद्देशक के ८० प्रायश्चितस्थानों में से किसी भी प्रायश्चित्तस्थान का सेवन करने वाले साधु-साध्वी को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन :-

***'अणुग्गए सूरिए'** - इस शब्द का अर्थ सूर्योदय के पहले परठना नहीं वैसा होता है, परंतु वह अर्थ सुसंगत नहीं। 'दिन में मलविसर्जन करने वाला साधु दिन के उगने पहले परठे तो प्रायश्चित्त आता है' - ऐसी बात असंगत बन जाएगी। अतः उसका अर्थ जहाँ सूर्य का ताप पहुँचता नहीं, वैसे छाया वाले स्थान में परठे तो प्रायश्चित्त आता है, वैसा करना चाहिए।*

*पात्र में उच्चार-प्रस्रवण कर के परठने की विधि का निर्देश **आचारांगसूत्र**, श्रुतस्कंध-२, अध्ययन-१० में है, तथापि योग्य समय और योग्य स्थंडिलभूमि सुलभ हो तो साधु को स्थंडिलभूमि का ही उपयोग करना चाहिए।'' (पृष्ठ-६०, हिन्दी भाषा में अनूदित)*

✿ **तेरापंथी संप्रदाय :**

आचार्य तुलसी के प्रमुख पद के तले **श्रीजैन विश्वभारती लाडनूं**

से प्रकाशित **निशीथसूत्र** अनुवाद :-

नोंध :- इस प्रकाशन में ***'दिया वा'*** पाठ का स्वीकार न करने पर भी ***'अणुग्गए सूरिए'*** पद को क्षेत्रपरक माना गया है और उसकी संगति की है।

''जो भिक्षु रात्रि अथवा विकाल वेला में उच्चार-प्रस्रवण के वेग से बाधित होने पर स्वयं के पात्र अथवा दूसरे के पात्र में उच्चार-प्रस्रवण का परिष्ठापन कर सूर्योदय से पूर्व त्याग करता (परिष्ठापित करता) है अथवा त्याग करने वाले का अनुमोदन करता है।

- इनका आसेवन करने वालों को लघुमासिक परिहारस्थान प्राप्त होता है।

(विवेचन :-) *सामान्यतया भिक्षु स्थंडिलभूमि में जाकर उच्चार-प्रस्रवण का विसर्जन करता है। परन्तु रात्रि या विकालवेला में अथवा दिन में भी रोग, स्थानाभाव, श्वापदभय आदि कारणों से स्थंडिलभूमि में जाना संभव न हो तो मात्रक में भी उच्चार-प्रस्रवण का विसर्जन किया जाता है।*

प्रस्तुत सूत्र में उस विसर्जित उच्चार-प्रस्रवण का सूर्योदय से पूर्व परिष्ठापन करने का प्रायश्चित्त प्रज्ञप्त है। प्रस्तुत सन्दर्भ में ***'अणुग्गए सूरिए'*** *पाठ विमर्शनीय है। भाष्य एवं चूर्णि में* ***'अणुग्गए सूरिए'*** *इस वाक्यांश का 'सूर्योदय से पूर्व' अर्थ ग्रहण करते हुए कहा गया है - इस सूत्र का अधिकार 'रात्रि में विसर्जन' से है। प्रस्तुत सन्दर्भ में उन्होंने रात्रि में परिष्ठापन से आनेवाले दोषों की भी चर्चा की है।*

यदि ***'अणुग्गए सूरिए'*** *वाक्यांश का अर्थ 'सूर्योदय से पूर्व' किया जाए तो सूत्र में प्रयुक्त 'दिया वा' पाठ की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।* (यहाँ आश्चर्य की बात यह है कि अपने संस्करण में 'दिया वा' पाठ न होने पर भी ऐसा उल्लेख हुआ है। वह

अन्य संस्करण–विवेचन के संस्कार–अनुकरण से लिखा गया हो वैसा लगता है।) *यदि सूर्योदय से पूर्व परिष्ठापन को निषिद्ध माना जाए तो सूर्यास्त से पूर्व उच्चार–प्रस्रवण के परिष्ठापन हेतु स्थंडिल का प्रतिलेखन करना भी निरर्थक हो जाता है। पात्र में विसर्जित उच्चार आदि में जीवोत्पत्ति होने से संयमविराधना तथा सूत्र की अस्वाध्यायी का भी प्रसंग आता है।*

अतः प्रस्तुत वाक्यांश का अर्थ कालसूचक न कर स्थानसूचक करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अर्थात् ऐसा स्थान जहाँ सूर्य न उगता हो, जहाँ सूर्य का प्रकाश एवं धूप नहीं पहुंचती हो, वहाँ परिष्ठापन करना सदोष है।

***श्रीमज्जयाचार्य** कृत **हुंडी** से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है – 'रात्रि विकाले उच्चार पासवणरी बाधा इ पीड्यो थको साधु आपणा पात्र विषै उच्चार–पासवण परठी करी नै तावडो न आवै त्यां नाखै' **निशीथहुंडी** ३/८०''*

ये सब विवेचन अत्यंत स्पष्टतया सिद्ध करते हैं कि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए प्रत्येक परंपरा उद्यमवंत रही है। **निशीथहुंडी** जैसे प्राचीन आधार भी इसमें शामिल हैं। ***'दिया वा'*** पाठ न मानने पर भी 'संपूर्ण रात्रि तक उच्चार–प्रस्रवण को रखे रहना, उसे परठना नहीं' – ऐसी बात किसी भी प्रकार से संगत नहीं होती। संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए, अनुद्गत सूर्य = सूर्य का ताप न पहुँचता हो वैसा क्षेत्र, वहाँ परठने की क्रिया को दुष्ट मानी गई है।

तथा ऐसे अर्थघटन को किसी भी प्राचीन टीका–व्याख्या का आधार नहीं, वैसा भी नहीं है। पढिए – हज़ारों साल पुरानी, संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना को स्वीकारने वाली परंपरा को प्रामाणिक सिद्ध करता हुआ उतना ही प्राचीन पाठ ।

❀ **संमूर्च्छिम मनुष्य की परंपरा को सदिओं प्राचीन सिद्ध करता हुआ स्पष्ट उल्लेख।**

ग्रंथ – **प्रश्नपद्धति**

कर्ता – नवांगीव्याख्याकार **श्रीअभयदेवसूरीश्वरजी महाराजा** के समर्थ शिष्य **पू. पंडित श्रीहरिश्चंद्रविजयजी** गणिवर

आधार – निशीथसूत्र की प्राचीनतर टीका – निशीथपंजिका

पाठ – **प्रश्न ३६**

''अणुग्गए सूरिए इति निशीथे प्रोक्तं तत्कथम् ? उच्चार-प्रस्रवणादिरक्षणे मुहूर्त्तमात्रतो जीवोत्पत्तिः, अनुद्गते सूर्ये परिष्ठापनतो दोषापत्तिः, तन्निरोधे रोगोत्पत्तिः, तर्हि किं करणीयम् ?

*तत्राह – इति न बोध्यम्, यत्प्रदेशे दिनकरप्रतापं नायाति तत्र न परिष्ठापनीयमित्यनुद्गतशब्दार्थो ज्ञेयः। **तत्पञ्जिकायां** प्रोक्तं – **'यत्रा-र्कांशवो न पतन्ति तदनुद्गतस्थानमयोग्यमि'ति**।''* (पृ. ४०)

अनुवाद :-

*प्रश्न :- **''अणुग्गए सूरिए''** इस प्रकार श्रीनिशीथसूत्र में कहा है उसका अर्थ क्या समझना? (आशय यह है कि निशीथसूत्र में सूर्योदय के पूर्व मल-मूत्र नहीं परठना' ऐसा कहने से निम्न मुश्किली आती है-) मल-मूत्र को यदि रखने में आए तो **[मुहूर्त्तमात्रतो जीवोत्पत्तिः** अर्थात्] दो घडी में जीवों की उत्पत्ति हो जाती है, सूर्योदय के पहले परठने में दोष लगता है और मल-मूत्र को रोकने में रोग की उत्पत्ति होती है, तो फिर क्या करें?*

*उत्तर :- 'जिस प्रदेश में, सूर्य का ताप न आए वहाँ मल-मूत्र न परठें' – ऐसा अनुद्गत शब्द का अर्थ समझें। **श्रीनिशीथसूत्र की पंजिका** में बताया है कि – **'यत्रार्कांशवो....'** जहाँ सूर्य के*

किरण न गिरे वह अनुद्गत स्थान अयोग्य समझें।''(अनुवादकार : **मुनि श्रीधर्मतिलकविजयजी)**

८०० से भी अधिक साल पुरानी यह ग्रंथरचना है। उसके कर्ता **श्रीहरिश्चंद्र** महाराज, नवांगीव्याख्याकार **श्रीअभयदेवसूरि** के शिष्य हैं। परिणामतः यह बात ८०० से भी अधिक वर्ष प्राचीन सिद्ध होती है। एवं इसमें उल्लिखित **श्रीनिशीथपंजिका** ग्रंथ तो उससे भी अधिक प्राचीन सिद्ध होता है। इस तरह सदिओं पुरानी यह पवित्र परिपाटी है।

रामलालजी महाराज ने पुनः पुनः यह बात दोहराई है और आज तक दोहरा रहे हैं कि – 'संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शरीर के बाहर निकली हुई अशुचि में ही अंतर्मुहूर्त्त के बाद होती है – यह बात मूल आगमों में तो कहीं नहीं है, आगम के व्याख्यासाहित्य में और प्राचीन अन्य शास्त्रों में भी कहीं नहीं।'

परंतु प्रस्तुत पाठ निशीथसूत्र की प्राचीन व्याख्या **निशीथपंजिका** का और आगम के प्राचीन व्याख्याकार **श्रीअभयदेवसूरि** महाराज के शिष्यरत्न **श्रीहरिश्चंद्र** महाराज द्वारा रचित **प्रश्नपद्धति** ग्रंथ का है। तथा इस पाठ में अत्यंत साफ–साफ 'डंके की चोट' पर स्पष्ट लिखा है कि संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शरीर में से बाहर निकली हुई अशुचि में मुहूर्त्त के बाद होती है। यह एक ही पाठ रामलालजी महाराज की आगमनिष्ठा की कसौटी करने वाला है। इस एक पाठ से भी आगमनिष्ठासंपन्न विद्वान मनीषी को संमूर्च्छिम मनुष्य की प्रवर्त्तमान परंपरा को सलामी देनी चाहिए... अब ''यह मूल आगम का पाठ नहीं. यह ग्रंथ अप्रमाणभूत है, आगमविरोधी है'' – इत्यादि कथन अत्यंत जघन्यकक्षा का और आत्मवंचनारूप कहा जाएगा। रामलालजी महाराज! महानिशीथ सूत्र के सावद्याचार्य को स्मृतिपट पर रख कर कृपया त्वरित इस मृषामान्यता से निवृत्त हो।

संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना निशीथसूत्रसम्मत

निशीथसूत्र विषयक प्रस्तुत चर्चा का सार यही है कि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना हमारी कायिक प्रवृत्ति से शक्य ही है – यह बात प्रत्येक पूर्वाचार्यों के हृदय में बैठी है। तदुपरांत, यह तो रोज़मर्रा की घटना होने से सहजतया किए हुए उपर्युक्त उल्लेख इस परंपरा की प्राचीनता और मौलिकता की नेकी का पुकार करते हैं। यह निःशंक–निसंदिग्ध सत्य है कि हमारी कायिक हिलचाल से संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना संभवित है। अत एव पंचमहाव्रतधारी श्रमण–श्रमणी भगवंतों को चाहिए कि वे संमूर्च्छिम मनुष्य की रक्षा में एवं अपने निमित्त से संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति न हो तदर्थ सदैव प्रयत्नशील रहें।

निशीथसूत्र के तीसरे उद्देशक के अंतिमसूत्र के आधार पर ''मल–मूत्र को लंबे समय तक संपूर्ण रात्रि तक रखना शास्त्रकारों को इष्ट है, विहित है। अतः संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना नहीं होती'' – ऐसा किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता।

मल–मूत्रादि का शीघ्रतया सूख जाना आवश्यक : निशीथचूर्णि

'काईयभूमी अप्पा, संसत्ता वा, ताहे दिवसतो वि मत्तए वोसिरिउं राओ अप्पसागारिते बाहिं परिट्ठविज्जत्ति' इस प्रकार का उल्लेख **निशीथभाष्य** (गा. १५५४) की **चूर्णि** में प्राप्त होता है। यहाँ प्रस्रवण परठने की जगह अल्प होने से (=कायिकी भूमि अल्प होने से) रात को विशाल भूमि में, तितर–बितर जल्दी सूख जाए उस प्रकार परठने की अनुकूलता वाली जगह में प्रस्रवण परठने का सूचन किया है वैसा ज्ञात होता है।

चूर्णिकार का तात्पर्य यह है कि दिन में बाहर प्रस्रवणादि परठने में सागारिक (=गृहस्थ) अनेक होने से शासनहीलना वगैरह बड़े दोष

संभवित हैं। तथा उसे परठने की जगह अल्प है, अथवा संसक्त है.... अतः गृहस्थों का आवागमन बाहर में न हो अथवा अत्यंत अल्प हो तब रात्री को उसे परठना आवश्यक बना है। तथा इसीलिए दिन में मात्रक में प्रस्रवणादि रखने का विधान है कि जो कारणिक ही है। अतः पूर्वप्रदर्शित रीत्या (पृ. ४६-४८) ही उसका समाधान कर लें। यहाँ मुख्य बाबत यह बतानी है कि 'कायिकी भूमि अल्प हो तो शास्त्रकारों को वहाँ मूत्रादि का परिष्ठापन इष्ट नहीं' - ऐसा जो ध्वन्यार्थ/व्यंग्यार्थ प्रस्तुत में निकलता है उसके द्वारा मूत्रादि लंबे समय तक आर्द्र अवस्था में न रहे, शीघ्रतया सूख जाए - वैसा शास्त्रकारों को इष्ट होना ज्ञात होता है।

अल्प कायिकी भूमि में परठने से प्लावन होना, मूत्रादि का एकत्र जमा होना वगैरह आपत्तियाँ अति-अति प्रचुर प्रमाण में मूत्रादि परठने से ही शक्य है। परंतु उस अल्प कायिकी भूमि में दो-चार महात्मा दो-चार बार मूत्रादि को सावधानी पूर्वक परठ दे उतने मात्र से प्लावन-डबरा वगैरह की संभावना ज्ञात नहीं होती। हाँ ! वह भूमि अत्यंत गीली-मूत्रादि से अत्यंत व्याप्त हो जाए वैसा संभवित है।

यदि ''लंबे समय तक पड़े रहने पर भी संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना नहीं होती'' - वैसा शास्त्रकारों को मान्य होता तो अल्प कायिकीभूमि में परठने के बजाय विशाल भूमि में ही प्रस्रवण परठने का विधान क्यों किया? अल्प कायिकीभूमि में ही प्रस्रवण का विधान किया होता न ! चाहे लंबे समय तक न सूखे । रामलालजी महाराज की मान्यता अनुसार तो लंबे समय तक न सूखने पर भी छोटीसी जगह में प्रस्रवण परठने के अपने प्रयास से संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना तो नहीं होने वाली।

चूर्णि का यह उल्लेख स्पष्टतया इस बात को ध्वनित करता है कि 'मनुष्य के मल-मूत्रादि दीर्घकाल तक आर्द्र अवस्था में पड़े हो तो उनमें

संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होती है। अतः विस्तृत भूमि में अलग-अलग-प्रविरल रूप में इस तरह परठें कि जिससे वे शीघ्रतया सूख जाएँ, संमूर्च्छिम की विराधना न हो।' ऐसी सावधानी बरतने में ही साधुत्व की सुरक्षा समाविष्ट है। यह बात किसी भी आगममनीषी की प्रतीति में आए वैसी है।

इस तरह निशीथसूत्र के तृतीय उद्देशक के सूत्र के विस्तृत विशदीकरण के द्वारा रामलालजी महाराज के B-1 क्रमांक विचारबिंदु की सत्यता (!?) की परीक्षा हो चुकी। इस विषय में विशेष बाबत आगे बृहत्कल्पसूत्र के एक पाठ के द्वारा पुनः देखेंगे।

❁ घटीमात्रक सूत्र का स्पष्टीकरण

अब B-2 क्रमांक विचारबिंदु में श्रीरामलालजी महाराज घटीमात्रक की बात कर के पुनः वही बात दोहरा रहे हैं कि 'साध्वीजी भगवंतों को पूर्ण रात्रि तक प्रस्रवण रखने की सूचना करने से शास्त्रकार भगवंत संमूर्च्छिम मनुष्य अविराध्य हैं-वैसा बता रहे हैं।' परंतु इस बात की गहराई से जाँच-पडताल करने पर शास्त्रकारों का आशय भिन्न ही ज्ञात होता है।

एक बात ध्यातव्य है कि घटीमात्रक नामक उपकरण सिर्फ श्रमणीवर्ग के लिए ही अनुज्ञात है। श्रमणों को घटीमात्रक रखना निषिद्ध है।

बृहत्कल्पसूत्र के **प्रथम उद्देशक** के दो सूत्र देख लें :

"कप्पइ निग्गंथीणं अंतो लित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।" (सू.१६)

"नो कप्पइ निग्गंथाणं अंतो लित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिह-रित्तए वा।" (सू.१७)

श्रमणीवर्ग को ही घटीमात्रक की अनुज्ञा दी गई है, श्रमणों को नहीं - यह बात ऐसा सूचित करती है कि श्रमणिओं को रात्रि के समय

में प्रस्रवण परठने हेतु मकान के बाहर जाने में शील-सुरक्षादि बाबतों में अनेक प्रत्यपाय संभवित हैं। अतः वैसे संयोग में उन्हें रात्रि को प्रस्रवण परठने हेतु बाहर जाने की मनाई फरमाई है और वैसी अवस्था में लघुशंकानिवारण की व्यवस्था के एक भाग के रूप में घटीमात्रक की अनुज्ञा दी गई है। तथा श्रमणों के लिए विशिष्ट प्रत्यपायों की संभावना के अलावा प्रतिदिन प्रस्रवण परठने हेतु रात को बाहर जाना शक्य होने से घटीमात्रक का निषेध फरमाया है। श्रमणों को रात्रि के समय परठने हेतु बाहर जाने में श्रमणिओं की माफिक सामान्यतः शीलसुरक्षादि की समस्या नहीं होती।

शास्त्रकारों को विशेष संयोगों के अलावा, घटीमात्रक का उपयोग कर के पूरी रात प्रस्रवण को रखने की बात अभिप्रेत नहीं है। परंतु जब रात्रि को बाहर आवागमन करने में शीलादि की विराधना का बहुत बड़ा दोष संभवित हो वहाँ लाभालाभ की तुलना कर के अधिक अपाय से बच कर कम से कम नुक़सान मोलने की बात की है। अर्थात् **'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः'** – इस न्याय से घटीमात्रक का उपयोग कर के प्रस्रवण को पूरी रात रखने की बात की गई है। शास्त्रकारों का यह आशय विचारकों के लिए अस्पष्ट रहे वैसा नहीं है।

❁ बृहत्कल्पसूत्र के आधार पर रहस्योद्घाटन

एक आगमवचन का अन्य अन्य आगमिक संदर्भों के साथ संकलन करने से ही शास्त्रकारों के आशय सुस्पष्ट समझ में आ सकते हैं। अन्यथा शस्त्रकारों के आशय को अन्याय होता है। पहले (पृ.-४६) निशीथ का सूत्र पेश किया था। उसका अर्थ करते हुए रामलालजी महाराज ने यूँ कहा था कि – "रात्रि के समय उच्चार आदि परठने का निषेध बता कर सूर्योदय के बाद परठने को कहा है। भाष्यकार ने

रात्रिगमन के दोष बता कर रात्रि को बाहर परठने का निषेध कर के पूरी रात मूत्र आदि को रखने की बात की है, क्योंकि शास्त्रकारों के मतानुसार पूरी रात मूत्र आदि रखने पर भी संमूर्च्छिम आदि की कोई विराधना है ही नहीं।''

ऐसे अभिप्राय वाला रामलालजी महाराज का बयान अन्य शास्त्रों के साथ पूर्वोक्त प्रकार से तुलना करने पर बेबुनियाद साबित होता है। हक़ीक़त में वे दोष रात को वसति के बाहर जाने में विशिष्ट प्रत्यपाय की संभावना हो वैसे स्थल में एकाकी श्रमण को लगते हैं। तथा श्रमणिओं के लिए घटीमात्रक का उपयोग कर के पूरी रात मूत्रादि रखने की बात विशेष आपवादिक है। हक़ीक़त में तो दो-तीन श्रमण तथा दो-तीन-चार साध्वीजी भगवंतों को रात्रि में कायिकी वगैरह भूमि में जाने की अनुज्ञा दी गई है। यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना का प्रश्न ही न होता तो पूरी रात मूत्रादि रख कर सुबह सूर्योदय के बाद ही परठने की विधि बताई होती न! रात्रि के समय बाहर जाने की बात क्यों करते? विशेष भय न हो तब तीन-चार साध्वीजी भगवंतों को एकसाथ कायिकी आदि भूमि पर जाने की बात शास्त्रकारों ने क्यों की ? मात्रक में (=प्याले में) पूरी रात मूत्रादि रखने का विकल्प तो हाज़िर ही है।

बृहत्कल्पभाष्य में तो वहाँ तक फरमाया है कि कारण-संयोगवश साध्वीजी अकेले हो और गृहस्थ स्त्री के साथ कहीं रुके हो। वैसे संयोगों में रात्रि को लघुशंका होने पर उन्हें अन्य गृहस्थ स्त्री को नींद में से उठा कर बिनती करनी चाहिए कि 'आप मेरे साथ बाहर चलो।' जब वह गृहस्थ स्त्री अनिच्छा ही दर्शाए तभी निरुपाय होने से मात्रक में कायिकी(=मूत्र) का विसर्जन कर के उसे पूरी रात रख कर सुबह उसकी परिष्ठापना करने की बात की गई है। ऐसी विधि दर्शा कर शास्त्रकार क्या सूचित करना चाहते हैं? यदि प्रस्रवण रखने में किसी भी प्रकार की विराधना ही न हो तो फिर गृहस्थ स्त्री को नींद में से उठा कर बिनती करने

की बात की क्या आवश्यकता थी?

चलें, अब तक प्रस्तुत की गई बातों के शास्त्राधार देख लें :-

बृहत्कल्पसूत्र – उद्देशक–१, सूत्र क्र. ४८

"नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

कप्पइ से अप्पबितियस्स वा अप्पतइयस्स वा राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।"

इस सूत्र की व्याख्या में **बृहत्कल्पभाष्यकार** (गा.३२०९) एकाकी रात्रिनिर्गम करने में जो दोष बताते हैं, वही दोष निशीथसूत्र के तृतीय उद्देशक के पूर्वोक्त सूत्र की व्याख्या में **निशीथभाष्यकार** (गा.१५०४) रात्रि को कायिकी परठने हेतु बाहर जाने में बताते हैं। अतः निशीथभाष्यकार ने वहाँ जो दोष बताए हैं वे एकाकी श्रमण को प्रस्रवणादि परठने हेतु जाने के विषय में बताए हैं – वैसा फलित होता है, मूत्रादि परठने की पूरी पाबंदी फरमाने हेतु नहीं। अन्यथा यहाँ वही दोष दर्शाने पर भी दो, तीन साधु भगवंतों को रात्रि में मूत्रादि परठने की जो अनुज्ञा मूल सूत्र में दी है – वह असंगत ही साबित होगी। बृहत्कल्पभाष्यकार ने वे तमाम दोष 'एकाकी साधु रात्रि के समय बहिर्गमन करे' उस संदर्भ में ही बताए हैं।

तत्पश्चात् **बृहत्कल्प** में ऐसा सूत्र है :

"नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

कप्पइ से अप्पबिइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्पचउत्थीए वा राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।। सू. ४९।।

इन दो सूत्रों का संक्षिप्त तात्पर्यार्थ इतना ही है कि :

निर्ग्रंथ एवं निर्ग्रंथी को रात्रि के समय अकेले विचारभूमि (विचारभूमि दो प्रकार की होती है – (१) कायिकी के लिए, (२)

उच्चार के लिए। तदुक्तं **बृहत्कल्पभाष्य**-३२०८गाथा**वृत्तौ** - *''सा च द्विविधा - कायिकीभूमिः उच्चारभूमिश्च''*) अथवा विहारभूमि (=स्वाध्याय भूमि) जाना कल्पता नहीं है। श्रमणों को दो-तीन की संख्या में, श्रमणिओं को दो-तीन-चार की संख्या में जाना कल्पता है।

इस तरह यहाँ यह बाबत स्पष्ट हो जाती है कि शीलसुरक्षाभय, चौरभय या अन्य उपद्रव की संभावना वगैरह स्वरूप विशेष संयोग के अलावा, रात्रि के समय में भी मल-मूत्रादि का बाहर परिष्ठापन कर देना शास्त्रकारों को इष्ट है, क्योंकि तभी संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बच सकते हैं। परंतु विशेष आगाढ संयोग के अलावा संपूर्ण रात्रि घटीमात्रक आदि में मूत्रादि का रखना तो शास्त्रकारों को क़तई इष्ट नहीं, कि जिसके द्वारा यूँ सिद्ध हो सके कि 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना अशक्य है।'

❀ संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने की अनेकविध यतनाएँ

प्रस्तुत **बृहत्कल्पसूत्र** के **भाष्य** का ओर एक पाठ एवं सुप्रसन्नशैली के स्वामी **श्रीक्षेमकीर्तिसूरि की वृत्ति** भी देख लें -

तेणिच्छिए तस्स जहिं अगम्मा,
वसंति णारितो तहिं वसेज्जा ।
ता बेति रत्तिं सह तुब्भ णीहं,
अणिच्छमाणीसु बिभेमि बेति ।। ३२३३।।

एवमुक्ते सति यद्यसौ श्रावक इच्छति = तदुक्तं प्रतिपद्यते तदा तस्य = शय्यातरस्य यत्र अगम्याः माता-भगिनीप्रभृतयो नार्यो वसन्ति तत्र सा एकाकिनी संयती वसेत्। ताश्च स्त्रियो ब्रूते - रात्रौ युष्माभिः सहाहं कायिक्याद्यर्थं निर्गमिष्यामि, अतो यदा भवत्य उत्तिष्ठन्ते तदा मामप्युत्थापयत। यदि ता इच्छन्ति ततो लष्टम्, अथ नेच्छन्ति ततः 'अहं रात्रावेकाकिनी निर्गच्छन्ती बिभेमि' इत्येवं ब्रवीति ।। ३२३३ ।।

एवमुक्ता यदि ता द्वितीया नागच्छन्ति तदा किं कर्तव्यम् ? इत्याह – मत्तासईए अपवत्तणे वा,

सागरिए वा निसि णिक्खमंती।

तासिं णिवेदेतु ससद्द–दंडा,

अतीति वा णीति व साधुधम्मा ।।३२३४।।

*रात्रौ मात्रके कायिकी व्युत्सर्जनीया, तत उद्गते सूर्ये सा मात्रक–कायिकी बहिश्छर्दनीया। अथ मात्रकं नास्ति, यद्वा तस्या मात्रके कायिक्याः प्रवर्त्तनम् = आगमनं न भवति, सागारिकबहुलं वा तद् गृहम्, एतैः कारणैः निशि = **रात्रौ एकाकिनी निष्क्रामन्ती** तासां = शय्यातरीणां निवेद्य सशब्दा = कासितादिशब्दं कुर्वती दण्डकं हस्ते कृत्वा साधुधर्मा = शोभनसमाचारा अत्येति वा = प्रविशति वा निरेति वा = निर्गच्छति वा ।।३२३४।।*

यहाँ एकाकिनी संयती के लिए बहुत स्पष्ट विधि दर्शाई गई है। कारणवश एकाकिनी साध्वी गृहस्थ स्त्री के साथ रही हो तब सहवर्ती स्त्रिओं को कहती है कि – 'रात को आप उठो तब मुझे भी उठाना, मैं आपके साथ कायिकी के लिए आऊँगी।' तथापि उठाने की बात का वे स्वीकार न करे तो – 'रात को मुझे भय लगता है। तो कृपया अवश्य मेरे साथ लघुशंकानिवारण के लिए आना' – इस तरह भारपूर्वक पुनः विज्ञप्ति करनी। इसके बावजूद भी वे साथ में आने को तैयार न हो तो अंततः निरुपाय हो कर मात्रक में मूत्रादि विसर्जित कर के पूरी रात रख कर सुबह परिष्ठापन करें।

मात्रक में मूत्रादि के स्थापन की बात आपद्धर्म स्वरूप में, निरुपाय स्थिति में ही शास्त्रकारों ने बताई है, क्योंकि मात्रक में मूत्रादि के स्थापन से संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना का उन्हें अच्छी तरह से ख्याल था। यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना ही असंभव हो तो फिर

दो-दो बार गृहस्थ स्त्री को विनंती कर के बाहर ही जाने का आग्रह शास्त्रकारों ने क्यों रखा? मात्रक का विकल्प तो था ही। चूपके से काम पूरा हो जाता। हाँ, मात्रक में प्रस्रवण करने में अनेक दोषों की संभावना शास्त्रकारों ने दर्शाई ही है। परंतु मात्रक में प्रस्रवण करने में उन संभवित दोषों की अपेक्षा प्रस्तुत में गृहस्थ स्त्रिओं को अप्रीति वगैरह स्वरूप प्रबल और स्पष्ट दोष है... अतः स्पष्ट ज्ञात होता है कि शास्त्रकार संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना के प्रति सभान हैं। अत एव जब ब्रह्मापाय-शंकादि रूप बड़े अपाय की संभावना हो तभी मात्रक में प्रस्रवण आदि को रखने की बात उन्होंने बताई है।

एक ऐसी दलील की जाती है कि "मात्रक में रात को लघुशंका निवारण किया हो तो उसे रात को ही परठने की बात शास्त्रों में कहीं नहीं की गई, प्रत्युत उसे पूरी रात न रख कर रात को ही परठने में प्रायश्चित्त बताया है। अतः पूरी रात प्रस्रवण रखने में शास्त्रकारों को संमूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना का होना मान्य नहीं।"

परंतु यह दलील तथ्यविहीन है, क्योंकि प्राचीन काल में रात्रि के समय में मात्रक का उपयोग बहुलतया तभी किया जाता था कि जब रात्रि के समय चौरादि के उपद्रव से बाहर जाना शक्य न हो। ऐसे समय में मात्रक में मूत्रादि कर के उसे रखने के अलावा ओर क्या विकल्प हो सकता है? बाहर यदि परठने में कोई तकलीफ न हो तो वे बाहर ही शंकानिवारण करने जाते न ! तथाविध कारण के अभाव में मात्रक का उपयोग पूर्व काल में प्रचलित न था। अतः मात्रक में मूत्रादि करने के बाद रात को परठने की बात शास्त्रकार न करे उसमें कोई आश्चर्य नहीं। तथा रात को मात्रक परठने हेतु बाहर जाने में जो प्रायश्चित्त बताया है, वह तो बाहर रात्रि के समय प्रत्यपायों की संभावना होने से बताया है। रात्रि के समय संभवित प्रत्यपाय, २-३ साधु के एकसाथ जाने में, यदि

निवार्य हो तो रात्रि के समय ही परठना शास्त्रकारों को इष्ट है। यह बात बृहत्कल्पसूत्र की साक्षी में (पृ. ६५) हम ऊपर देख चुके हैं।

अतः यत्र कुत्रचित् प्राप्त होने वाली मात्रक में मूत्रादि को पूरी रात रखने की बात की अन्यान्य आगमिक संदर्भो के साथ तुलना किए बिना, यूँ ही ऊपर-ऊपर का अर्थ पकड़ कर, उसका फलितार्थ 'संमूर्च्छिम मनुष्य अविराध्य = अहिंस्य = अपनी कायिक हिलचाल वगैरह से अवध्य हैं' - ऐसा निकालना वह फलतः असंख्य संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय बादर त्रस मनुष्य की विराधना में पर्यवसित होने से महापातक स्वरूप बन सकता है। आगमवफ़ादार मनीषी! सावधान !

अब तक रामलालजी के B-1+2 क्रमांक विचारबिंदु का परीक्षण हो चुका। (उनके लेख के लिए देखिए : परिशिष्ट-४)

❁ आचारांग सूत्र का गर्भितार्थ

B-3 क्रमांक विचारबिंदु में रामलालजी महाराज [१]**आचारांगसूत्र**

---

(१) **आचारांगसूत्र** का पाठ इस प्रकार है :-

"से भिक्खु वा [भिक्खुणी वा] जाव समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

केवली बूया - आयाणमेतं। से तत्थ परक्कममाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा तत्थ से काए उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणएण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा उवलित्ते सिया। तहप्पगारं कायं णो अणंतरहियाए पुढवीए णो ससणिद्धाए पुढवीए, णो ससरक्खाए पुढवीए, णो चित्तमंताए णो चित्तमंताए लेलूए, कोलावासंमि वा दारुए जीवपतिट्ठिते सअंडे सपाणे जाव संताणएसिलाए, णो आमज्जेज्ज वा णो पमज्जेज्ज वा संलिहेज्ज वा णिल्लिहेज्ज वा उवलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा आतावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

से पुव्वामेव अप्पससरक्खं तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाएज्जा, जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, अवक्कमेत्ता अहे झामथंडिल्लंसि वा जाव अण्णतरंमि वा तहप्पगारंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय ततो संजयामेव आमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज वा।"

(आचारांग सूत्र - श्रुतस्कंध-२, अध्ययन-१, उद्देशक-१, सूत्र-३५३)

की बात ले कर उपस्थित हुए हैं। उनके कथन का सार इतना है कि :

''**आचारांग सूत्र** में मल-मूत्रादि से लिप्त पैर को अचित्त कंकर-पत्थर वगैरह से साफ करने का विधान है। यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना शक्य होती तो ऐसा विधान नहीं किया होता। जैसे बारिश से भीगी हुई काया को पोंछने का **श्रीदशवैकालिक** सूत्र (७/७) में निषेध किया है वैसे मल-मूत्र में भी यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना शक्य होती तो उसकी सफाई का भी निषेध किया होता।''

परंतु रामलालजी महाराज का ऐसा कथन भी आगमिक तथ्य से विपरित दिशा का ज्ञात होता है। अमुक विचारबीज -

❁ आचारांग सूत्र का नवनीत परोसते विचारमंथन

(१) मार्ग में पड़े हुए विष्ठा वगैरह मनुष्य के ही हो वैसा नियम नहीं है। गाय के गोबर वगैरह भी हो सकते हैं, कादव-कीचड़ भी हो सकता है। तथा संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति तो सिर्फ मनुष्य संबंधी अशुचिओं में ही मानी गई है - यह बात स्मर्तव्य है।

लोगों के आवागमन के मार्ग में गोबरादि या कीचड़ादि से पैर के लिप्त होने की संभावना ही अधिक है। अत एव **आचारांगसूत्र** के प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में प्रमाणभूत प्राचीन वृत्तिकार **श्रीशीलांकाचार्यजी** बताते हैं कि : *''अथ मार्गान्तराभावात्तेनैव गतः प्रस्खलितः सन् **कर्दमाद्युप**-लिप्तकायो नैवं कुर्यादिति दर्शयति - स यतिः तथाप्रकारं = अशुचिकर्दमा-द्युपलिप्तं कायमन्तर्हितया....''* इत्यादि ! यहाँ स्पष्टतया कादव-कीचड़ादि का ग्रहण किया है, क्योंकि मार्ग में उससे पैर के लिप्त होने की संभावना विशेष है। अतः आचारांग के उस सूत्र के द्वारा भी 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना नहीं होती' - वैसा सिद्ध नहीं होता।

(२) एक ओर बात यह है कि अशुचि के ऊपर पैर गिरने के कारण

मानो कि मनुष्य की विष्ठा स्वरूप ही अशुचि लगी हो तो भी वह स्वल्प ही होगी। शरीर की गरमी से तो वह सूख जाने वाली है। जब तक भिक्षु प्रस्तुत सूत्रोक्त विधि अनुसार उस अशुचि को दूर करने का उपक्रम करेगा तब तक ऐसी पूरी शक्यता है कि वे संमूर्च्छिम मनुष्य च्युत हो चुके हो।

(३) पानी से समूचा भीगा होना और अशुचि से पैर लिप्त होना – इन दोनों के बीच तो खुला तफ़ावत है। पानी को पोंछने से प्रायः तमाम अप्काय जीवों की विराधना होती है। जब कि पैर में लगी हुई अशुचि संमूर्च्छिम मनुष्य से युक्त हो तो भी उसके अवलेखन से अल्पविराधना ही होती है। अन्य बहुभाग जीवों को जीवनदान मिल जाता है।

(४) अशुचि से पैर को लिप्त रहने देने का विधान शिष्टाचार से भी विरुद्ध है। अतः **आचारांगसूत्रकार** ने उस अशुचि वगैरह को दूर करने का विधान, विधि बताने पूर्वक किया हो वैसा संभवित है।

❁ पादलेखनिका द्वारा 'गलत मान्यता' का अवलेखन

(५) सचित्त मिट्टी वगैरह से खरंटित पैर को भी साफ करने का विधान आगम में है ही। तदर्थ लिए गए उपकरण का नाम है : पादलेखनिका अर्थात् अवलेखनिका। अर्थात् वटवृक्ष वगैरह वृक्ष के काष्ठ की पट्टी जैसा, पैर के तलिये जितना चौड़ा, उपकरणविशेष।

वर्षावास में ग्रहण करने योग्य उपधि को बताते हुए **निशीथसूत्र-भाष्य** (गा.३२३८) में बताया है कि –

''डयलग-ससरक्ख-कुडमुह-मत्तगतिग-लेव-पायलेहणिया।''

यहाँ पादलेखनिका का ग्रहण दर्शाया है।

निशीथसूत्र में भी (उद्देशक-१, सू.४०) इस प्रकार से पादलेखनिका का उल्लेख मिलता है : *"जे भिक्खु दंडयं वा लट्ठियं वा **अवलेहणियं** वा वेणुसूइयं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्टावेति वा संठावेति वा जमावेति वा अलमप्पणो करणयाए सुहुममवि नो कप्पइ जाणमाणे सरमाणे अण्णमण्णस्स वियरति, वियरंतं वा सातिज्जति ।*

इस सूत्र में उल्लिखित अवलेखनिका को परिभाषित करते हुए **निशीथभाष्यकार** बताते हैं कि :-

"उडुबद्धे रयहरणं, वासावासासु पादलेहणिया ।
वड-उंबरे पिलक्खू, तेसि अलंभम्मि अंबिलिया ।।७०९ ।।
बारसंगुलदीहा, अंगुलमेगं तु होति विच्छिण्णा ।
घण-मसिण-णिव्वणा वि य, पुरिसे पुरिसे य पत्तेयं ।।७१० ।।"

इन्हीं गाथाओं के अनुसंधान में **ओघनिर्युक्ति** में आगे बताया गया है कि :

"उभओ नहसंठाणा सचित्ताचित्तकारणा मसिणा ।।२९ पूर्वार्ध ।।"

श्रीद्रोणाचार्यजी महाराज इस गाथाशकल की **वृत्ति** में बताते हैं कि :

"उभयोः पार्श्वयोः नखसंस्थाना = नखवत्तीक्ष्णा। किमर्थमसौ उभयपार्श्वयोस्तीक्ष्णा क्रियते ? सचित्ताचित्तकारणात्, तस्या एकेन पार्श्वेन सचित्तपृथिवीकायः संल्लिख्यते, अन्येन पार्श्वेनाऽचित्तपृथ्वीकाय इति। किंविशिष्टा सा? 'मसिण' त्ति मसृणा क्रियते, नातितीक्ष्णा, यतो लिखत आत्मविराधना न भवति। पृथ्वीकाययतनाद्वारं गतम्।"

यहाँ दोनों ओर से पादलेखनिका को तीक्ष्ण करने की बात की है, जिससे एक ओर से सचित्त पृथ्वीकाय का अवलेखन कर सकें तथा अन्य ओर से अचित्त पृथ्वीकाय का। यहाँ स्पष्टतया सचित्त पृथ्वीकाय

का अवलेखन बताया है। क्या शास्त्रकार के ऐसे विधान मात्र से ऐसा मान लेना उचित है कि 'सचित्त पृथ्वीकाय की विराधना अपनी कायिक प्रवृत्ति से नहीं होती?' तो फिर संमूर्च्छिम मनुष्य से युक्त ऐसे विष्ठादि का कदाचित् अवलेखन (=साफ) करने की बात शास्त्रकारों ने बताई हो तो भी उसका तात्पर्यार्थ ऐसा कदापि नहीं निकाल सकते कि 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना हमारी कायिक प्रवृत्ति से अशक्य ही है।'

❀ आचारांग सूत्र का पाठ बाधक नहीं, प्रत्युत साधक

(६) दूसरी बात यह भी है कि साधु का पैर जब मनुष्य की विष्ठादि अशुचि से ही लिप्त हो तब भी उस अशुचि को पैर में ही रहने देने से उसकी विराधना रुकेगी या उसे संभाल कर यतनापूर्वक एकांत स्थान में उसका अवलेखन कर देने से? एक बात ध्यान रखने योग्य है कि आचारांग सूत्र के प्रस्तुत संदर्भ के अनुसार भिक्षु गोचरीचर्या के लिए निकला है। उस समय पैर लिप्त हो तो जब तक अशुचि सूख न जाए तब तक एक पैर खड़े काउसग्ग में, हलन-चलन किए बिना रहने की बात कैसे उचित कही जाएगी? प्रवर्तमान भिक्षाटनक्रिया में वैसा कैसे शक्य होगा? तदुपरांत, अशुचि को पैर में ही रहने दें तो भी साधु के शरीर की गरमी से उन संमूर्च्छिम मनुष्यों को तो परितापनादि अवश्य होंगे ही। शरीर की गरमी वगैरह से विष्ठादि के सूख जाने पर तो संमूर्च्छिम मनुष्य की मृत्यु भी अवश्य होगी। यदि साधु अशुचि से लिप्त ऐसे पैर को यूँ ही रख कर आगे बढ़ेगा तो उन जीवों की तो अधिक विराधना होगी। अतः संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने का यही श्रेयस्कर मार्ग है कि संभाल कर किसी एकांत जगह में जा कर उस अशुचि का अवलेखन कर के उसे परठ देना। आचारांगसूत्रकार ने, संमूर्च्छिम मनुष्य की अधिक विराधना से बचने हेतु ही ऐसी विधि का प्रतिपादन किया है।

इस तरह, रामलालजी महाराज द्वारा B-3 क्रमांक विचारबिंदु में पेश किए गए **आचारांग सूत्र** के पाठ से तो संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना अपनी प्रवृत्ति से अशक्य होने का तो सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना न हो जाए तदर्थ उद्यमवंत ओर यतनावंत रहने की बात फलित होती है। इस तरह स्पष्टतया आगमिक तथ्य निखर आने पर भी संमूर्च्छिम मनुष्य को अविराध्य मानने का आग्रह असंख्य संमूर्च्छिम मनुष्यों की हिंसा बोलो या खून, उसमें निमित्तभूत बनता है।

✿ तीन-तीन मल्लक रखने की बात की स्पष्टता

B-4 क्रमांक विचारबिंदु में श्रीरामलालजी महाराज का यूँ कहना है कि "चातुर्मास के दौरान उच्चार-प्रस्रवण-खेल (=श्लेष्म=कफ) के लिए तीन-तीन मात्रक लेने का विधान किया है। जिससे एक-दो मात्रक भर जाए तो भी तकलीफ न हो। यहाँ तीन मात्रक को रखने का विधान किया है कि जो संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना अशक्य होने का सूचन करता है।"

परंतु यह बात भी सत्य से लाखों योजन दूर है, क्योंकि जब बाहर बारिश गिरती हो तभी मात्रक में मूत्रादि के स्थापन का विधान है। (अन्यथा शेषकाल के लिए ऐसा विधान क्यों नहीं किया?) ये रहे **निशीथसूत्रचूर्णि** (गा.३१७२) के शब्द – *"इमं कारणं – जं संजमनिमित्तं वरिसंते एगम्मि वाहडिते बितिय-ततिएसु कज्जं करेति।"*

बाहर बारिश गिर रही हो तब मूत्रादि का विसर्जन करने पर भी संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना तो रुकती नहीं। उपरांत में अत्यधिक अप्काय की विराधना भी होती है। भीगे हुए वस्त्रों में निगोदादि की संभावना तो मुनाफे में। जब बारिश चल रही हो तब मूत्रादि बाहर न परठते हुए अपने मात्रक में ही रखने से अब सिर्फ संमूर्च्छिम मनुष्य की

विराधना का ही प्रश्न शेष रहता है। वह विराधना भी मात्रक को व्यवस्थित हिलाने से, संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि न बने वैसी सभी संप्रदाय में प्रचलित विविध यतनाओं के द्वारा निवार्य है। (इस विषयक अधिक जानकारी आगे के विचारबीज (पृ. ८२/८४) में दी जाएगी।)

प्रज्ञापना के पूर्वप्रदर्शित सूत्र में (देखिए पृष्ठ-६+७) संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्ति के स्थान के रूप में नगरनिर्धमनी = नगर की गटर दर्शाई है। उसके द्वारा **पन्नवणा** सूत्रकार ऐसा सूचित करते हैं कि नगर की गटर पानीसहित होती है, जिससे उसमें अशुचि का वहन होता रहे। अतः उसमें रहे विष्ठादि शुष्क न होने से उसमें संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति निरंतर चालु ही रहती है। (यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना हमारी कायिक प्रवृत्ति द्वारा शक्य ही न हो तो पंचम समिति के पालन को सरल बनाने के लिए नगर की गटर वगैरह में या शौचालय में या फिर सूखे कचरे के ढेर रूप अन्य सुलभ अशुचिस्थानों में ही उच्चारादि का विसर्जन कर देने का सरल उपाय शास्त्रकारों ने बताया होता। परंतु वैसा तो उपाय नहीं बताया, मुख्यतया संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना न हो तदर्थ ही न!)

बारिश गिरती हो तब ऐसी ही कुछ घटना बनती है। बारिश में मल-मूत्रादि का विसर्जन करने पर वे सूखते नहीं। निरंतर पानी के संपर्क से वे भीगे ही रहते हैं। परिणामतः संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होती ही रहती है। उसकी विराधना से बच नहीं सकते । तदुपरांत मल-मूत्रादि निमित्तक एवं उनको परठने हेतु किए आवागमन निमितक जो अप्काय आदि की विराधना होती है वह तो अलग! इससे अच्छा तो मात्रक को यतनापूर्वक स्थापित रखने में नहींवत् अथवा तो अल्प विराधना है । अतः मात्रक को रखने का विधान है । एवं इसी कारण से तीन-तीन मात्रक लेने की बात की है। अन्यथा, बिना किसी कारण के भी, संमूर्च्छिम की विराधना न होने से मात्रक में मल-मूत्रादि रखने का

शास्त्रकारों को यदि इष्ट होता तो शेषकाल में भी तीन-तीन मात्रक रख कर एक ही बार में परठने का विधान करते। स्वाध्यायादि का पलिमंथ = व्याघात कितना कम होगा? परंतु शेषकाल में तीन-तीन मात्रक रखने की बात शास्त्रमान्य नहीं है एवं शास्त्रकारों को यह बात बिलकुल मान्य नहीं कि 'संमूर्च्छिम मनुष्य अविराध्य हैं।'

❁ श्लेष्ममल्लक से संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना संभवित होने की सिद्धि

श्लेष्म के मल्लक (=प्याले) की बात निकली ही है तब श्लेष्म का मल्लक भी कितनी बखूबी से संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने की बात करता है उसे भी देख लें। श्लेष्म के मात्रक में भस्म = राख भर कर रखी जाती है। पूर्वकाल में भी यही परंपरा थी। इसीलिए तो भस्म को ग्रहण करने का विधान है। श्लेष्म के मात्रक में राख का उपयोग होता था उस बात का दिशानिर्देश हमें **आवश्यकनिर्युक्ति** की **चूर्णि** में से (जिसे पू.हरिभद्रसू.म. ने अपनी वृत्ति में अनेक स्थलों में उद्धृत की है उसमें से) मिलता है। **आवश्यकभाष्य** गा. १३९,१४० की **वृत्ति** में **पू. हरिभद्रसूरिजी** ने **चूर्णिकार** के शब्द यूं पेश किए हैं :-

''ततो निग्गहिओ छलूगो । गुरुणा य से खेलमल्लो मत्थए भग्गो, ततो निद्धाडिओ, गुरू वि पूतिओ, णगरे य गोसणयं कयं - वद्धमाणसामी जयइ त्ति ।.... तेणावि सरक्खखरडिएणं चेव वइसेसियं पणीयं।''

अनुवाद :- इस तरह रोहगुप्त का निग्रह किया। गुरु ने उसके मस्तक पर श्लेष्म की कुंडी फेंकी (अर्थात् उसे तोड़ कर राख डाली) और उसे संघ बाहर किया। गुरु की पूजा हुई और पूरे नगर में घोषणा हुई कि 'वर्धमान स्वामी की जय हो' ... भस्म से खरंटित ऐसे उस रोहगुप्त

ने वैशेषिक दर्शन की रचना की।

रोहगुप्त निह्नव की वक्तव्यता में हमें यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि श्लेष्म के मात्रक में भस्म भरी रखी जाती थी।

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य (गा. १८८६) की **वृत्ति** में तो श्लेष्म के मल्लक = प्याले में राख भरने की बात का *अत्यंत स्पष्ट उल्लेख मिलता है*, इन शब्दो में – *''खेलमल्लकस्य भस्मना भरणं।''*

यहाँ प्रश्न होता है कि श्लेष्म के प्याले में भस्म क्यों भरी जाती थी ? यह परंपरा – मर्यादा ऐसा सूचित करती है कि – 'श्लेष्म तो गर्भज मनुष्यसंबंधी अशुचि है, शरीर के बाहर आने के पश्चात् यदि अंतर्मुहूर्त्त में वह सूख न जाए, श्लेष्म के रूप में ही रहे तो फिर उसमें संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति और विराधना होती है। (देखिए पृ.–१२) अतः व्यवस्थित यतनापूर्वक उसका निकाल करना आवश्यक है। यदि श्लेष्ममल्लक में भस्म भर रखें तो उसमें डाला हुआ श्लेष्म, काष्ठपट्टी वगैरह से राख के साथ व्यवस्थित एकमेक कर देने से, राख की गरमी से वह सूख जाता है अथवा श्लेष्म के रूप में नहीं रहता। अतः संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के प्रायोग्य वह नहीं रहता। ४८ मिनट से अधिक समय तक श्लेष्म, आर्द्रश्लेष्म के रूप में न रहे वह ज़रूरी है, क्योंकि वैसा हो तभी संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना नहीं होती।'

यदि 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना हमारे द्वारा शक्य नहीं' – वैसा मान लें तो फिर श्लेष्म सूख जाए या उसका रूपांतरण हो जाए वैसी व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता ? श्लेष्म के मात्रक में राख भरने की क्या ज़रूरत? संपातिम जीवों की विराधना से बचने हेतु मात्रक को ढंक कर रखना ही पर्याप्त है, उसमें भस्म भरने की क्या आवश्यकता?

तदुपरांत, यह भी विचारणीय है कि वर्षाऋतु में श्लेष्म के तीन

मात्रक रखने की बात क्यों की गई? तीन-तीन श्लेष्ममल्लक रखने के पीछे आशय यह है कि "शेषकाल के दौरान जब 'श्लेष्म नहीं सूखेगा' – वैसा ज्ञात हो तब पुरानी श्लेष्मयुक्त भस्म खुली जगह में परठ कर नई भस्म उसमें भर सकते हैं। वर्षाकाल में जब मुसलाधार बारिश गिर रही हो तब 'श्लेष्म अब इसमें नहीं सूखेगा' – वैसी भस्म हो जाने पर भी खुले में उस भस्म को परठ नहीं सकते, क्योंकि वर्षा चालु है। तो वैसे समय उसी मल्लक में श्लेष्म परठ कर संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना करने से तो अच्छा यही है कि तीन मात्रक रख कर, क्रमशः योग्य रूप में उसका उपयोग कर के संमूर्च्छिम की विराधना से बचते रहना। यही साधुता को सुहाता मार्ग है।"

इसलिए **निशीथभाष्य** एवं **निशीथचूर्णि** में

"उच्चार-पासवण-खेलमत्तए तिण्णि गेण्हंति।" (३१७२)

"वरिसाकाले उच्चारमत्तया तिण्णि, पासवणमत्तया तिण्णि, तिण्णि खेलमत्तया। एवं णव घेत्तव्वा।" इस तरह स्पष्टतया नव मल्लक लेने का विधान अर्थात् श्लेष्म के तीन मात्रक लेने का विधान किया है। एक ओर बात याद रखें कि ये नव-नव मल्लक प्रत्येक साधु को ग्रहण करने की उपधि है, समस्त गच्छ की समूची नहीं।

अब यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना अपनी प्रवृत्ति से अशक्य ही हो तो उपर्युक्त प्रकार से श्लेष्म के सूख जाने का प्रबंध करना अनावश्यक बन जाता है। तो फिर अपरिग्रहव्रत की सापेक्षता बनाए रखने के लिए प्रत्येक साधु चातुर्मास में तीन के बजाय सिर्फ एक ही श्लेष्ममात्रक रखे तो भी क्या हर्ज़? सब साधुओं के बीच अथवा पांच-सात साधु के बीच कफ परठने का एक ही मल्लक रखने का विधान क्यों नहीं किया? सात दिन निरंतर मुसलाधार बारिश गिरे और सख़्त कफ हो गया हो तो भी एक मल्लक = मात्रक भी कफ से पूरा भरेगा नहीं। हाँ ! वह सूखेगा नहीं, ऐसा बन सकता है। परंतु यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की

विराधना अपनी कायिक प्रवृत्ति से अशक्य ही हो तो उस मल्लक में रहे श्लेष्म को सूखने की भी क्या ज़रूरत? तो फिर निरर्थक अधिक उपधि का ग्रहण क्यों? व्यर्थ परिग्रह क्यों बढ़ाना ?

❁ श्लेष्म मल्लक की बात से परंपरा की प्रबल पुष्टि

इस तरह, तीन श्लेष्ममल्लक को रखने का विधान कर के शास्त्रकारों ने यह बात अत्यंत स्पष्ट की है कि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए श्लेष्मादि अशुचि जल्द ही – मुहूर्त्त के पहले पहले सूख जाए या रूपांतरण प्राप्त हो वैसा प्रबंध करना वह साधुत्व की मर्यादा है। उपर्युक्त समस्त विचारणा द्वारा स्पष्टतया इतना सार निकलता है कि –

(१) शरीर के बाहर निकली हुई अशुचि में ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होती है।

(२) यदि अंतर्मुहूर्त्तादि स्वरूप समयमर्यादा में वह अशुचि अत्यंत सूख जाए, भस्मादि से अत्यंत मिश्रित हो जाए तो संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बच सकते हैं।

(३) शरीर में से बाहर निकली अशुचि में तुरंत नहीं, अपितु कालांतर में = दो घडी के बाद (देखिए पृ.–१२) संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होती है।

'अशुचि सूख जाने से उसमें संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती' – इस बात की प्रतीति एक ओर साबिती द्वारा हम कर सकते हैं। पूर्वोक्त (देखिए पृ.– ६+७) **प्रज्ञापनासूत्र** के अंतर्गत जो *'सुक्केसु'* और *'सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु'* दो पद हैं, उसकी व्याख्या करते हुए, उन दोनों के बीच की भेदरेखा स्पष्ट करते हुए स्थानकवासी संप्रदाय में मान्यताप्राप्त **श्रीघासीलालजी** महाराज उसकी **वृत्ति** में बताते हैं कि –

''सुक्केसु वा = शुक्रेषु वा, सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा =

शुक्रपुद्गलपरिशाटेषु वा = पूर्वं शुष्कपश्चादार्द्रशुक्रेषु इत्यर्थः।''

प्रस्तुत विवरण से शुक्र = शरीर से बहिर्निर्गत शुक्र में (=शरीर से बाहर निकलने के बाद भी अंतर्मुहूर्त्त से अधिक काल तक आर्द्र रहे शुक्र में) और पहले शुष्क हो चुके परंतु पुनः रक्त, जलादि के संयोग से आर्द्र हुए शुक्र में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति बताई गई है। अर्थात् यदि शुक्रादि अशुचि बाहर निकलने के बाद किसीके साथ अत्यंत एकमेक हुए बिना यूँ ही पड़े रहने से सूख गई हो तो पुनः स्त्रीशोणित, जलादि के संयोग से उसके आर्द्र होने पर उसमें संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शक्य है – ऐसा ध्वनित अर्थ हम समझ सकते हैं। इसके द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि शुष्क हो चुके शुक्रादि अशुचि में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शक्य नहीं। परंतु सूखी न हुई अशुचि में वह शक्य है।

❁ रामलालजी महाराज के विधान से ही परंपरा को पुष्टि

यह बात सिर्फ **घासीलालजी** महाराज ही बताते हैं वैसा नहीं है, किन्तु **रामलालजी** महाराज ने स्वयं अपने लेख में प्रस्तुत पन्नवणा सूत्र का अर्थ करते वक़्त *''शुक्रों (वीर्यों) में, पहले सूखे हुए परन्तु पुनः गीले शुक्र पुद्गलों में''* – ऐसा बताया है। इसके द्वारा स्पष्ट होता है कि – अशुचि के सूख जाने के बाद उसमें संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती और फलतः उसकी विराधना भी नहीं होती। अतः बाहर रही आर्द्र अशुचि में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति और विराधना होती है – वैसा भी सिद्ध हो जाता है। वर्तमान में यही परंपरा प्रसिद्ध है।

शुक्रपुद्गलपरिशाट का ऐसा अर्थ उचित है या नहीं? वह चर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं है। परंतु 'उसका ऐसा अर्थ लिखने वाले के मन में क्या आशय है?' उसका हमें स्पष्टीकरण करना है। प्रस्तुत अर्थ जब रामलालजी महाराज स्वयं करते हो तब उनके हृदय की गहराई में भी किस बाबत के

संस्कार जीवंत हैं – यह बात अत्यंत स्पष्ट हो जाती है। इसी दृष्टिकोण से यह बात यहाँ बताई है। संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक प्रवर्त्तमान प्रस्तुत आगमिक परंपरा को इससे बड़ी सलामी ओर क्या हो सकती है?

इस तरह हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि **श्रीनिशीथसूत्रभाष्य** की वर्षाकाल में तीन–तीन मल्लक रखने की बात से 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना हमारे द्वारा शक्य नहीं' – वैसा सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने का उपाय ही उससे द्योतित होता है। अर्थात् संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना शक्य होने से उससे बचने का ही उपदेश दिया गया है।

❁ मृतदेह की बात का विश्लेषण

अपने B-5 क्रमांक विचारबिंदु में **श्रीरामलालजी** महाराज यूँ कह रहे हैं कि – ''मुनि के मृतक की उपस्थिति में रात्रि के समय कायिकी (=मूत्र) का पात्र स्थापित रखने की बात है। अतः संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना अशक्य सिद्ध होती है।''

परंतु यह बात तो स्वतः निरस्त है। सबसे पहले तो यह ज्ञातव्य है कि रात्रि के समय मुनि के मृतदेह को रखना वह कारणिक है। उत्सर्ग से तो दिन हो या रात, तत्काल उस मृतदेह की महापारिष्ठापनिका करने की बात है। अन्यथा थोड़े समय बाद उसमें समूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होने से उस मृतदेह को उठाने आदि में अपने हाथों से संमूर्च्छिम की विराधना का प्रसंग आएगा। अत एव तत्काल महापारिष्ठापनिका समिति की बात की गई है।

आवश्यक निर्युक्ति की पारिष्ठापनिका निर्युक्ति में बताया है कि – *''जं वेलं कालगओ निक्कारण, कारणे भवे निरोहो ।* (गा. ३८ पूर्वार्ध) इस गाथा की **हरिभद्रीय वृत्ति** में उद्धृत प्राचीन व्याख्या में

बताया है कि –

''जाए वेलाए कालगओ दिया वा राओ वा सो ताए चेव वेलाए नीणियव्वो, निक्कारण त्ति एवं ताव निक्कारणे। 'कारणे भवे निरोहो' त्ति कारणे पुणो भवे निरोहो, निरोहो नाम अच्छाविज्जइ।''

यह बात भी हमें संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने की प्राचीन परंपरा ज्ञात करती है।

❁ मात्रक को स्थापित रखने के पीछे परंपरा की प्रसिद्धि

रही बात मात्रक को स्थापित रखने की। स्पष्ट बात है कि वह कारणिक आपवादिक विधान है। जब व्यंतरादि के कारण से वह मृतदेह पुनः उठे तब उसे शांत करने का सुलभतम साधन प्रस्रवण के अलावा ओर क्या हो सकता है? मृतदेह के उठने के बाद यदि साधु कायिकी करने जाए, कायिकी का अवश्य होना और बाद में उसे छिड़कना – यह बात सर्वत्र 'प्रेक्टिकल' शक्य नहीं है। यदि उस वक़्त किसीको लघुशंका ही न हो तो तत्काल प्रस्रवण लाना कहाँ से ? परिणामतः कायिकी का मात्रक स्थापित रखने का विकल्प ही शेष रहता है। उस वक़्त मात्रक को पुनः पुनः हिलाने से संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि का बनना वहाँ रोका जा सकता है।

❁ संमूर्च्छिम मनुष्य योनिध्वंस विचारणा

मात्रक को हिलाते रहने से उसमे संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि का न बनना – यह बात कल्पनाशिल्पनिर्मित नहीं। परंतु आगमिक मान्यताओं के दृढ अवलंबन से रचित है।

निशीथभाष्य में कहा गया है कि –

''जोयणसयं तु गंताऽणाहारेणं तु भंडसंकंती।

वाताऽगणि-धूमेहिं विद्धत्थं होति लोणादी ।।४८३३।।''

अर्थात् नमक जैसी तीक्ष्ण योनि वाले पृथ्वीकाय आदि भी अन्यान्य बरतनों में संक्रांत होना वगैरह द्वारा सौ योजन तक पहुँचने पर अचित्त हो जाते हैं। (चूर्णि में तो भंडसंक्रांति को अत्यंत स्पष्टतया स्वतंत्र योनिविध्वंसक परिबल के रूप में परिभाषित किया गया है। उसकी बात आगे की जाएगी।) जो तीक्ष्ण शस्त्र से भी दुर्विराध्य है वैसे तीक्ष्ण योनि वाले ऐसे सचित्त नमक का, भंडसंक्रांति वगैरह के माध्यम से अचित्त होना जब आगमसम्मत हो तब जिसमें जीवोत्पत्ति (= संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति) नहीं हुई हो वैसे मात्रक आदि को – तदंतर्गत कायिकी आदि को (= तरल और अत्यंत मृदु वैसे उस उत्पत्तिस्थान को) हिलाने द्वारा उसमें निर्मित हो रही संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि का विध्वंस हो जाना उसे अनागमिक, काल्पनिक या असंभवित नहीं मान सकते। उसमें भी जब परापूर्व से प्रचलित ऐसी प्राचीन परंपरा का उसे पीठबल हो। [१] एक बात तो स्पष्ट है कि विध्वस्त योनि में जीवोत्पत्ति नहीं होती। (एक बात ध्यान में रखें कि विशेष संयोगों के अलावा इस परंपरा का यानी कि हिला कर लंबे समय तक मूत्रादि को रखने का व्यवहार उचित नहीं है।)

इस बात की थोड़ी ओर स्पष्टता कर लें। सबसे पहले ध्यातव्य है कि यहाँ कोइ नई बाबत को शास्त्रसिद्ध साबित करने का प्रयत्न नहीं है। परंतु वर्तमान में जो परंपरा प्रचलित है, वह शास्त्रविरुद्ध नहीं – उतना ही साबित करने का यह प्रयास है। तथा जो परंपरा अनेक सुविहित

---

(१) **श्रीदशवैकालिकसूत्रभाष्य** गा. ५८ में बताया है कि :-

''विद्धत्थाविद्धत्था जोणी जीवाण होइ नायव्वा।
तत्थ अविद्धत्थाए वुक्कमई सो य अन्नो वा ।। ५८।।''

श्रीहरिभद्रसूरि महाराजा विरचित **वृत्ति :-**

''विध्वस्ताऽविध्वस्ता = अप्ररोह-प्ररोहसमर्था योनिर्जीवानां भवति ज्ञातव्या, तत्राऽविध्वस्तायां योनौ व्युत्क्रामति स चाऽन्यो वा जीव इति गम्यत इति गाथार्थः।।''

गीतार्थ पुरुषों के द्वारा प्रवृत्त और अनिषिद्ध हो, वृत्त-अनुवृत्त हो, तथा शास्त्रविरुद्ध न हो वह अपने आप शास्त्रसिद्ध-आगमसंमत साबित होती है। ऐसा यहाँ सहजसिद्ध मेलजोल है। भंडसंक्रांति-अनाहारता-वातादि कारणों से सचित्त नमक विध्स्तयोनिक = अचित्त होता है - वैसी बात **निशीथभाष्य** के प्रस्तुत श्लोक में बताई है। इसके द्वारा भंडसंक्रांति वगैरह योनिविध्वंसक परिबल हैं - वैसा सूचित होता है। भंडसंक्रांति अर्थात् विशिष्ट प्रकार की हलनचलनरूप क्रिया। (भंडसंक्रांतित्वेन नहीं, अपितु तथाविधक्रियात्वेन ही योनिविध्वंसकत्व इष्ट है।) इसी प्रकार की, किंतु मंद ऐसी हिलाने की प्रक्रिया संमूर्च्छिम की योनि का विध्वंस करे वह बात काल्पनिक नहीं।

जैसे १० पहलवान मिल कर सिमेंट के मज़बूत खंभे का विध्वंस कर सकते हो तो प्रत्येक में अंशतः ईंटविध्वंसक शक्ति हाज़िर होने से मिट्टी की कच्ची ईंट एक ही पहलवान एक ही मुक्का मार कर तोड़ दे वह बात वाजिब है। सिमेंट के मज़बूत खंभे को तोड़ने के लिए चाहे १० पहलवान आवश्यक हो, परंतु मिट्टी की कच्ची ईंट हो तो एक पहलवान का सामान्य मुक्का भी काफी है, क्योंकि सभी पहलवान में प्रत्येक में ईंटत्रोटक शक्ति विद्यमान है। उसी तरह भंडसंक्रांति, अनाहारता वगैरह जिस कारणसमूह से सचित्त नमक अचित्त होता है उसमें से भंडसंक्रांति जैसी मात्रक को हिलाने की क्रिया से जिस प्रस्रवणादि में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हुई वैसे तरल प्रवाही में उसकी योनि की उत्पत्ति का निरोध हो जाता है या योनि बिख़र जाती है - इस परंपरा को अनुचित या अत्यंत काल्पनिक नहीं कह सकते, क्योंकि हिलाने की क्रिया तत्प्रकारक (=योनिविध्वंसक वगैरह स्वरूप) परिबल के रूप में प्रदर्शित है। इस तरह, **निशीथभाष्य** के प्रस्तुत श्लोक द्वारा कोई नई बात सिद्ध नहीं करनी, अपितु जो आचरणा सुविहित गीतार्थ श्रमण परंपरा में चली आ रही है वह शास्त्रविरुद्ध नहीं, निरर्थक या अत्यंत निराधार नहीं है - इतना ही यहाँ बताना है। यह बात कोई भी प्राज्ञ व्यक्ति हृदय से

स्वीकार कर पाएगी।

वास्तव में तो **निशीथभाष्य** की **चूर्णि** के अनुसार और **बृहत्कल्पसूत्र भाष्य** (गा. ९७३)की **वृत्ति** के अनुसार भंडसंक्रांति स्वतंत्रतया नमक को अचित्त करने के लिए सक्षम परिबल है। स्वस्थान में ही रहा हुआ, सौ योजन न गया हुआ भी नमक भंडसंक्रांति द्वारा ही अचित्त हो सकता है वैसा **निशीथचूर्णिकार** ने बताया है। ये रहे उनके शब्द : *'तं च लोणादि जोयणसयमगयं पि सट्ठाणे अंतरे वा विद्धंसति भंडसंकंतीए.... '*। (नि.भा. ४८३३ चू.) जब केवल भंडसंक्रांति से ही = विशिष्ट प्रकार की हलन-चलन क्रिया से ही तीक्ष्णयोनिक सचित्त नमक विध्वस्त हो सकता हो तब 'प्रस्रवणादि को व्यवस्थित हिलाने से उसमें संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि विध्वस्त हो सकती है' – ऐसी प्रसिद्ध परंपरा अनुचित या अनागमिक नहीं कह सकते... हाँ ! इसके आधार पर वैसी कोई नवीन परंपरा या नूतन प्रणालिका हम खड़ी नहीं कर सकते... परंतु अपने पूर्वाचार्यों में तथाप्रकार की जो वृत्त-अनुवृत्त परंपरा हो उसे शास्त्रअविरुद्ध अवश्य घोषित कर सकते हैं।

❀ संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना अवश्यंभावी

यहाँ अत्यंत उल्लेखनीय बाबत यह है कि पूरी रात तक मूत्र रखने वगैरह के विधान को आपवादिक – कारणिक ही मानना चाहिए, 'संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना संभवित नहीं' – ऐसी मान्यता के स्वीकार के बावजूद भी।

एक प्रश्न का जवाब दें – मल, मूत्रादि सूख जाने के बाद संमूर्च्छिम की उत्पत्ति रुक जाती है या चालु ही रहती है? मूत्रादि अत्यंत सूख कर पर्यायांतर को प्राप्त हो तत्पश्चात् भी उसमें संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति जारी रहने की बात कतई युक्तसंगत या आगमसंमत नहीं हो सकती । अतः मानना ही रहा की मूत्रादि सूख जाने पर संमूर्च्छिम मनुष्य

की उत्पत्ति रुक जाती है।

इसका मतलब यही हुआ कि शरीर के अंदर संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति होने की रामलालजी महाराज की मान्यता का स्वीकार करने वाले कोई महात्मा, सूख जाए उस तरह प्रस्रवणादि परिष्ठापन करे तो उसके द्वारा संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना होगी ही, क्योंकि उनके मत में शरीरस्थ मूत्रादि तो संमूर्च्छिम मनुष्य से युक्त ही होते हैं और बाहर सूख जाए उस तरह उसे परठने से उनकी मृत्यु हो जाती है। तो फिर संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना शक्य नहीं – यह सिद्धांत कैसे खड़ा रहेगा?

तथा इस विराधना से बचने हेतु मूत्रादि सूख न जाए उस तरह, लंबे समय तक आर्द्र रहे उस तरह उसकी हिफाज़त करने की आपत्ति आएगी, क्योंकि शरीरनिर्गत मूत्र संमूर्च्छिम मनुष्य से युक्त होने की रामलालजी महाराज की मान्यता है और यदि वे मूत्रादि सूख जाए तो संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना होती है। जैसे अनाभोगादि कारणवश सचित्त पानी वहोर लिया हो तो उस पानी को उसके मूलस्थान में परठ कर पानी के उन जीवों की रक्षा करने की बात आगम में बताई है, क्योंकि अन्यत्र परठने में सूख जाना वगैरह कारणों से पानी के उन जीवों की विराधना हो सकती है। उसी तरह संमूर्च्छिम मनुष्ययुक्त मूत्रादि सूख जाने से उसमें रहे संमूर्च्छिम की विराधना होने से वह सूख न जाए वैसी सावधानी बरतने की आपत्ति आएगी।

यहाँ ऐसी दलील कर सकते हैं कि – ''संमूर्च्छिम मनुष्य युक्त मूत्रादि और सचित्त पानी – दो बाबतें भिन्न हैं। सचित्त पानी को उसके मूलस्थान में यतनापूर्वक परठ देना शक्य है, मूत्रादि में वैसी यतना संभवित नहीं है। मूत्रादि को सदैव रखने से अनुचित प्रवृत्ति – लोकगर्हादि की आपत्ति आती है। साथ में संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना दीर्घकाल तक चलती है, बढ़ती है। अतः मूत्रादि को रखना नहीं, परंतु परठ देना

ही उचित है... क्योंकि मूत्रादि के सूख जाने से संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति रुक जाती है...''

इस कथन के द्वारा यह बात सिद्ध हो गई की मल-मूत्रादि जितने अधिक समय तक आर्द्र - तरल अवस्था में रहेंगे उतने अधिक समय तक संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति - नाश ज़ारी ही रहेंगे। परिणामतः संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना होगी ही।

समग्र रात्रि मूत्रादि रखने में पूरी रात तक संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना चालु ही रहती है। अतः जल्द से जल्द सूख जाए उस तरह यदि समय पर उसे परठ दें तो उस विराधना की परंपरा स्थगित हो जाएगी। इस तरह संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना अपनी कायिक प्रवृत्ति द्वारा न मानने पर भी पूरी रात मूत्रादि को निष्कारण या सकारण रखने में उसकी विराधना की आपत्ति तो खड़ी ही रहेगी। (इस विराधना को देखते और जानते हुए भी शास्त्रकार भगवंत पूरी रात मूत्रादि रखने का विधान निष्कारण तो करते नहीं। अतः वे विधान विशिष्टकारणसापेक्ष आपवादिक विधान हैं-ऐसा मानना ही रहा।)

इस तरह सिद्ध होता है कि -

''संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना शक्य नहीं। शरीर के भीतर में या बाहर रही हुई अशुचिओं में सर्वत्र संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति निरंतर चालु रहती है'' - ऐसी मान्यताएँ आगमिक तथ्यों से जोजनों दूर हैं, आगमविरुद्ध हैं। इसका कारण यह है कि आगमअमान्य ऐसी, मूत्रादि को लंबे समय तक कायम आर्द्र अवस्था में स्थापित रखने की, वे सूख न जाए उस तरह उन्हें नहीं परठने की - ऐसी नई-नई आचरणाओं को मान्य करने की आपत्ति आती है। तथा आर्द्र अवस्था में लंबे समय तक स्थापित रखने से लंबे समय तक संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति-नाश की परंपरा को चलाने की आपत्ति भी खड़ी ही रहती है। अतः जहाँ कहीं भी शास्त्रकारों ने मूत्रादि को लंबे समय तक स्थापित

रखने की बात की है वहाँ प्रवचनविराधना, आत्मविराधना वगैरह बड़े दोषों से बचने का शास्त्रकारों का आशय होता है। परंतु 'मूत्रादि को लंबे समय तक स्थापित रखने में कोई विराधना नहीं होती' – वैसा बताने का आशय नहीं होता। यह बात सिंहावलोकन न्याय से, प्रस्तुत में बद्धमूल होती है।

इस तरह B-5 क्रमांक विचार के परीक्षण से भी संमूर्च्छिम मनुष्य के अहिंस्य होने की बात आगमिक सिद्ध नहीं होती।

❁ कृमि विचार समीक्षा

B-6 क्रमांक विचारबिंदु में रामलालजी महाराज ने ऐसा बताया है कि "कृमि वगैरह की रक्षा हेतु शास्त्रकारों ने यतना बताई है, परंतु संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए कोई यतना नहीं बताई है। अतः संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना शक्य न होने का आगमिक पुरुषों को अभिप्रेत है।" यह बात अत्यंत वाहियात कक्षा की गिनी जा सकती है, क्योंकि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए अनेकविध यतनाएँ पूर्वोक्त पद्धति से शास्त्रकारों ने दर्शाई ही हैं। यह बात अनेक प्रकार से पहले सिद्ध कर चुके हैं।

उच्चार के विर्सजन के समय कृमिरोग वाले श्रमण के मल में कृमि विद्यमान होते हैं। अतः उनकी तत्काल सुरक्षा विषयक यतना करना बताया है। विसर्जित हुए मल–मूत्रादि में तत्काल संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न नहीं हो जाते। किन्तु अंतर्मुहूर्त्त के पश्चात् उत्पन्न हो सकते हैं (देखिए पृ. १२)। इससे वे शीघ्रतया सूख जाए उस तरह परठने में शास्त्रोक्त (देखिए पृ. ८९) यतना बरतनी है। इतनी हिफाज़त मात्र से संमूर्च्छिम की उत्पत्ति ही नहीं होती तो फिर उसकी विराधना को रोकने हेतु अन्य यतना की बात कहाँ से लब्धप्रसर होगी? यह तो सामान्य बुद्धि से समझ सकें वैसी बात है।

संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने हेतु अन्य यतना

तथापि रामलालजी महाराज को संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए प्रस्तुत में शास्त्रीय यतना हम बताते हैं। शास्त्र में ऐसा विधान है कि :

संसक्तग्रहणी = कृमि वगैरह जीवयुक्त मलादि हो तो छाया में परठें, परंतु यदि मलादि जीव युक्त न हो तो उसे गरमी–आतप में परठें।

ये रहे **निशीथचूर्णिकार** के शब्द –

''असंसत्तगहणी उण्हे वोसिरति, संसत्तगहणी छायाए वोसिरति...।'' (नि.भा. १८७१ चूर्णि)

''असंसत्तगहणी, तेण ण छायाए वोसिरति'' (नि.भा. १८७२ चूर्णि)

यहाँ देखिए ! कृमि वगैरह न हो तो उच्चार को ताप–गरमी में व्युत्सृष्ट करने की स्पष्ट बात बताई है। यह विधान क्या संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए यतना नहीं सूचित करता? मल के नीचे धरती तप्त हो, ऊपर से सूर्य का प्रचंड ताप हो वैसी स्थिति में मल में संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि ही तैयार न हो वैसी भी प्रबल संभावना ज्ञात होती है। तदुपरांत, परठा हुआ मल योग्य समय में सूर्य के ताप से शक्य उतना जल्दी सूख जाता है। इससे स्पष्टतया समझ सकते हैं कि शुष्क और पर्यायांतर को प्राप्त ऐसी अशुचि में संमूर्च्छिम की उत्पत्ति मान्य न होने से उसकी विराधना से बच सकते हैं। आतप में मलविर्सजन करने के विधान के पीछे संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के अलावा ओर कौन सा प्रयोजन मुख्य हो सकता है ? अत्यंत स्पष्टतया यहाँ मल–मूत्र विसर्जन विषयक संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए यतना बताई है।

आचमनयतना

एक दूसरी यतना भी देख लें -

श्रमण-श्रमणी जहाँ मल-मूत्र विसर्जित करते हैं वहीं आचमन करने की (मलस्थान को परिमित जल से साफ करने की) शास्त्रकारों ने मनाई फरमाई है।

ये रहे **निशीथसूत्र** के परमपूत वचन :

"जे भिक्खू उच्चार-पासवणं परिट्ठवेत्ता तत्थेव आयमति, आय-मंतं वा सातिज्जति....

तं सेवमाणे आवज्जति मासियं परिहारट्ठाणं उग्घातियं...।" (चतुर्थ उद्देशक, सूत्र-१०९)

"तत्थेव त्ति थंडिले, जत्थ सण्णा वोसिरिया" - **निशीथचूर्णि**

यह व्यवस्था दर्शाने के पीछे विशेष कारण अनेक हो सकते हैं। किंतु मूलभूत कारण यही हो सकता है कि - जहाँ संज्ञा (=मल) का व्युत्सर्जन किया गया है वहीं आचमन-निर्लेपन करने से द्रव-पानी मल पर गिरने से लंबे समय तक वह आर्द्र ही रहेगा, कि जो संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना का कारक है। अतः थोड़ी दूर जा कर आचमन करने का विधान शास्त्रकारों के द्वारा किया गया ज्ञात होता है। श्रीमधुकरमुनि की राहबरी तले **श्रीनिशीथसूत्र** के हुए अनुवाद में भी प्रस्तुत सूत्र के विवेचन में यह बात स्पष्ट की गई है :

"मल त्यागने के बाद उसके ऊपर ही आचमन करने से गीलापन अधिक बढ़ता है जिससे सूखने में अधिक समय लगने से विराधना की संभावना रहती है। अतः कुछ दूरी पर आचमन करना उचित है।" (पे.१२२)

निशीथचूर्णिकार ने प्रस्तुत में 'संमूर्च्छिम मनुष्यों की यतना के लिए यह विधान है, इस यतना का अर्थात् आचमन अन्यत्र करने के

विधान का पालन न करने में संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना होती है' – ऐसा उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने वहाँ प्रवचनहीलना वगैरह हेतु बताए हैं। परंतु उसका मतलब यह नहीं है कि उन्हें इतने ही कारण बताने अभिप्रेत हैं। मुख्यतया वे दोष अनाचमन को उद्देश्य कर बताए हैं। **निशीथभाष्य** की गाथा १८७८ का व्यवस्थित अभ्यास करने वाले समझ सकते हैं कि अनाचमन को उद्देश्य कर जो दोष दर्शाए हैं वे दोष दूर–आसन्न आचमन करने में भी समाविष्ट कर दिए गए हैं। अतः संमूर्च्छिम मनुष्यों की हिंसा वहाँ निर्दिष्ट नहीं हुई। पहले (पृ. ८९) हम स्पष्ट कर चुके तदनुसार **निशीथचूर्णिकार** को उच्चारादि शीघ्रतया सूख जाए वही इष्ट है। अतः शास्त्रकारों के सिर्फ शब्दों को पकड़ कर आक्षेप करना बिलकुल उचित नहीं है।

हम देख सकते हैं कि शास्त्रकार अत्यंत सहजता से, बखूबी से संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक शास्त्रमान्य प्राचीन परंपरा के प्रति श्रद्धा को दृढमूल करती हुई यतनाएँ दर्शाते ही हैं। इस तरह अद्यावधि देखी गई ढेर सारी बाबतों से शास्त्रकार भगवंतों ने संमूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना से बचने हेतु अनेक यतनाएँ बताई हैं – ऐसा सिद्ध होने से 'संमूर्च्छिम की विराधना से बचने हेतु शास्त्रकारों ने कोई यतना नहीं बताई' – ऐसा कहना रामलालजी महाराज के लिए अत्यंत अनुचित गिना जाएगा।

❁ क्षारादि यतना का हार्द

B-7 क्रमांक विचारबिंदु में श्रीरामलालजी महाराज यूँ बताते हैं कि – ''घाव में से बहते रक्त के ऊपर क्षार डालने का विधान है तथा ऋतुकाल में आर्त्तव के दिनों में वस्त्रादि बांधने की बात है, इससे संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना का न होना सिद्ध होता है।'' परंतु यह बात तो संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के विषय में चली आ रही प्राचीन प्रणालिका और आगमिक तथ्य को पुष्ट करने वाली ही है,

क्योंकि शरीर में से बाहर निकलने के बाद तुरंत ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं मानी गई है। (देखिए पृ.-१२) वस्त्रादि के बांधने से रक्त उसी भाग में शक्यतः स्थिर रहता है तथा क्षार (=भस्म) से और देह की गरमी से संमूर्च्छिम मनुष्य उसमें उत्पन्न न हो - ऐसी यतना वहाँ बताई है। तदुपरांत पसीना-मैल वगैरह से युक्त वस्त्र जब तक पहने हुए हो अर्थात् देह के संसर्ग में हो तब तक उसमें भी जीवोत्पत्ति मानने की परंपरा नहीं है। शरीर की गरमी उसकी उत्पत्ति में प्रतिबंधक बनी रहती है।

❀ उष्णादि योनि वाले तर्क की समालोचना

यदि यहाँ यूं कहना चाहते हो कि -

"पन्नवणा में संमूर्च्छिम मनुष्य की त्रिविध योनि बताई है - शीत, उष्ण और मिश्र। अर्थात् उष्णयोनि वाले भी संमूर्च्छिम मनुष्य होने से देह की उष्णता से उसकी उत्पत्ति का अवरोध मानना योग्य नहीं।"

तो इसके जवाब में हमें मज़बूरन कहना पड़ेगा की आगमिक तथ्य से आप अब तक परिचित नहीं हुए हो, क्योंकि उष्णयोनि वाले होने मात्र से कोई भी जीव उष्णता से अप्रतिरोध्य नहीं बन जाते। उष्णयोनि वाला होना बह अलग बात है और उष्णता से अप्रतिरोध्य होना वह अलग बात है। तेजस्काय उष्णयोनिक है। तेजस्काय की उष्णयोनि बताई है।

"तेउक्काइयाणं णो सीता, उसिणा, णो सीउसिणा" (पन्नवणा-सूत्र, पद-३, सूत्र-१५०)। यहाँ तेजस्काय को सिर्फ उष्णयोनि ही बताई है।

तथापि अन्य अग्नि वगैरह की उष्णता = गरमी से उसका प्रतिरोध, उसकी नाश्यता भी शास्त्रसिद्ध ही है। इसीलिए तो एक तेउकाय के लिए अन्य तेउकाय स्वकायशस्त्र होने की बात शास्त्रों में बताई है।

आचारांग निर्युक्ति गाथा १२४ का पूर्वार्ध इस प्रकार है :

''किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंचि।''

श्रीशीलांकाचार्यविहित **तद्वृत्ति** इस प्रकार है :-

''किञ्चित् शस्त्रं स्वकाय एव = अग्निकाय एव अग्निकायस्य, तद्यथा – तार्णोऽग्निः पार्णाऽग्नेः शस्त्रमिति। किञ्चिच्च परकायशस्त्रं उदकादि। उभयशस्त्रं पुनः तुष–करीषादिव्यतिमिश्रः अग्निः अपराग्नेः।''

यहाँ स्पष्ट है कि अग्निकाय की योनि उष्ण होने पर भी अन्य विलक्षण अग्नि वगैरह की गरमी–उष्णता से उसका वध–नाश वगैरह मान्य है।

इसी तरह 'संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि उष्ण होने पर भी शरीरादि की गरमी से, शरीर में से बाहर निकले रक्तादि में, संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि की रचना नहीं होती, उसका प्रतिरोध हो जाता है। अतः संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना का प्रश्न ही नहीं आएगा' – यह बात आगमिक सत्य से दूर नहीं। प्रत्युत, रक्तादि पर क्षार–भस्म का विधान, वस्त्र बांधने का विधान – ये सब आगमिक परंपराएँ भस्म, शरीर की उष्मा वगैरह से संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति का प्रतिरोध हो जाने की बात का प्रबल समर्थन करते हैं।

इस विषय में यदि आप का ऐसा कहना हो कि ''स्वकायशस्त्र होने मात्र से स्वकाय में भी जीव की उत्पति का प्रतिरोध नहीं हो जाता, शस्त्र तो उत्पत्ति के बाद नाश करने का कार्य करता है, नहीं कि उत्पत्ति रोकने का।''

तो ऐसी बात दिग्भ्रमित करने वाली है । रामलालजी महाराज ने जब ऐसा कहा कि संमूर्च्छिम मनुष्य उष्णयोनि वाले होने से शरीर की गरमी उनकी उत्पत्ति को रोक नहीं सकती, तब उसके सामने सीधा उत्तर दिया गया कि – उष्णयोनि वाले होने मात्र से उष्णता उनकी उत्पत्ति को रोक नहीं सकती – वैसी बात किस आगमिक सबूत के

बलबूते पर उद्घोषित की जा रही है? स्वकायशस्त्र के सिद्धांत अनुसार तेजःकाय तेज का शस्त्र अवश्य बन सकता है । 'टु ध पोइन्ट ' आए इस जवाब से बचने हेतु अब उस समूचे विषय को अलग ही दिशा में मोड़ने का प्रयास बिलकुल उचित नहीं । स्वकायशस्त्र से स्वकाय में ही उत्पत्ति का प्रतिरोध मान लेने से तो जीवराशि ही नहीं टिकेगी । कोई भी जीव जन्म ही धारण नहीं कर पाएगा । ऐसी बात कोई भी व्यक्ति नहीं करेगा। अत एव हमने भी ऐसी बात नहीं की है।

एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि संमूर्च्छिम मनुष्य के लिए स्वकाय संमूर्च्छिम मनुष्य ही बनेंगे। उनकी योनि गर्भजमनुष्यसत्क *अशुचिस्थान है । तैजस शरीर की गरमी तो उनके लिए परकाय ही बनती* है । 'उष्णयोनि वालों के लिए उष्णता प्रतिबंधक नहीं बनती' – रामलालजी महाराज की यह बात को अत्यंत अनुचित सिद्ध करने के लिए ही स्वकायशस्त्र की बात पेश की गई है।

तथा पहले (पृ.१६) स्पष्ट कर गए तदनुसार, शरीर की गरमी वगैरह माध्यम से, गर्भजमनुष्यत्वपर्यायविशिष्ट तत्शरीरअधिष्ठाता आत्मा ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति के प्रति प्रतिबंधक है । इस कारण संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति का रुक जाना उचित ही है । जैसे उष्णयोनि वाला पानी भी अग्नि के बीच में अपनी योनि बनाने के लिए समर्थ नहीं बनता । स्त्रीपुंसंयोग में उष्णता होने पर भी संमूर्च्छिम मनुष्य की जो उत्पत्ति स्वीकृत की है वह तो उत्तेजक होने के कारण स्वीकृत की गई है। यह बात पहले ही (पृ. ३५–३६) अत्यंत स्पष्ट कर चुके हैं।

'यदि शरीर के बाहर ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मानोगे तो उष्णयोनि की संगति कैसे करोगे ? – यह प्रश्न वैचारिक संदिग्धता को प्रतिबिंबित करता है । संवृतादि योनि की चर्चा की स्पष्टता के अवसर पर संमूर्च्छिम मनुष्य की विवृतयोनि की संगति करने के बजाय सिर्फ 'सर्वज्ञकथित होने से' ऐसा बता कर पलायनवाद स्वीकारने के बाद

उष्णयोनि वाले विषय में यह प्रश्न कैसे पेश कर सकते हो ?

इसीलिए हमारा कहना है कि शास्त्रकारों के विधान में अमुकत्र केवलीदृष्ट का आश्रय लेना योग्य होने पर भी अपनी मान्यता की सिद्धि के लिए ऐसे तर्क का आश्रय लेना योग्य नहीं है। प्रत्युत तटस्थता से विचारणीय है कि विवृतयोनि की संगति (अमुकत्र = विकलेन्द्रिय वगैरह में कुछ अलग प्रकार से केवलीदृष्ट के अनुसार मज़बूरन करनी पड़ती है तथापि) संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक नूतन मान्यता की अपेक्षा प्राचीन परंपरा की बात से अधिक अच्छी तरह से हो सकती हो, तो उस बात का अत्यंत अपलाप करने में हक़ीक़त में आगमनिष्ठा का ही बलिदान लिया जाता है ।

रही बात संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक उष्णयोनि की संगति की । शरीर के भीतर भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मानने वाला पक्ष यूं कहना चाहता है कि – ''शरीर में स्थित मल–मूत्र उष्ण होते हैं। अतः संमूर्च्छिम मनुष्य की उष्ण योनि भी मिलेगी । शरीर के बाहर निकलने के बाद कुछ समय तक शीतोष्णयोनि मिलेगी, तत्पश्चात् शीतयोनि ।''

आपातरमणीय लगती यह बात आगमिक सिद्धांत के साथ विरुद्धता से ग्रस्त है । पन्नवणा सूत्र के नौंवे पद में उष्ण एवं शीत योनि का निषेध करने पूर्वक गर्भज मनुष्यों को शीतोष्णयोनि बताई गई है । यदि शरीर के भीतर संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति उष्णयोनि = उष्णस्पर्शयुक्त उपपात क्षेत्र में हुई गिनी जाए तो फिर गर्भज मनुष्य की उत्पत्ति उष्णयोनि में होना अवश्य स्वीकारना पड़ेगा कि जो आगमिक सिद्धांत को अननुरूप है । अतः रामलालजी महाराज की मान्यता के अनुसार शरीर के भीतर उत्पन्न होने वाले संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि भी गर्भज मनुष्य की माफिक शीतोष्ण ही माननी पड़ेगी । संमूर्च्छिम मनुष्य में उष्णयोनि की संगति करना तो रामलालजी महाराज के लिए भी शेष ही रहेगा । क्या ऐसा

नहीं लगता कि आगमिक बाबत के विषय में किसी भी प्रकार का विधान करने से पहले अत्यंत शांत चित्त से सोच-विचार करना चाहिए?

शरीर के बाहर रहे हुए एवं तथाविधकारणवश साहजिक उष्णस्पर्श वाले ऐसे उपपातक्षेत्र में उत्पन्न होने वाले संमूर्च्छिम मनुष्यों का आश्रय कर उष्णयोनि की संगति अवश्य हो पाएगी । तथा स्त्रीपुंसंयोग में शीतोष्णयोनि भी अवश्य मिलेगी । यहाँ एक बात तो स्पष्टतया समझ लेने जैसी है कि सुस्पष्ट तथा मर्मवेधी उत्तरों के ख़ंडन और उसका अपलाप करने के लिए तत् तत् विषय को अलग दिशा में मोड़ देने का प्रयास सुकुमारमति को चाहे व्यामोह पैदा कर दे, परंतु सूक्ष्मधीसंपन्न आगममनीषी के लिए वह बेनकाब बन कर ही रहते हैं । अतः ऐसे लज्जास्पद प्रयासों से दूर रहने में ही भलाई है ।

❁ मोक प्रतिमा से परंपरा की ही सिद्धि

व्यवहारसूत्र की मोक प्रतिमा की बात भी इसी विचारबीज के गवाह हैं कि मूत्रादि में तुरंत – शरीर के बाहर निकलते ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती, परंतु कालांतर में होती है । प्रवर्त्तमान परंपरा के अनुसार तथा **प्रश्नपद्धति** (प्र.३६) वगैरह के अनुसार स्पष्टतया शरीर से बाहर निकले मूत्रादि अशुचि में दो घटिका के बाद ही (देखिए पृ.१२) संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मानी गई है। अतः रामलालजी महाराज का यह आक्षेप कि 'यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना शक्य होती तो **व्यवहार सूत्र** में दर्शित मोकप्रतिमा (=स्वमूत्र का ही आचमन करने का अभिग्रहविशेष) असंगत हो जाएगी' – वह अत्यंत निरर्थक और निराधार साबित होता है । इसका कारण यह है कि आगममान्य मोक आचमन के वक्त संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना का कोई प्रसंग ही नहीं है। दो घटिका तक स्थापना के बाद मोकआचमन की यदि बात होती तो कदाचित् संमूर्च्छिम विराधना की आपत्ति आ सकती । परंतु

व्यवहार सूत्र में वैसी कोई बात नहीं है । प्रत्युत, मूत्रादि में यदि सतत संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति मान्य की जाए तो मूत्र का आचमन करने से जीवंत असंख्य संमूर्च्छिम मनुष्य को अपने पेट में स्वाहा करने की आपत्ति आएगी, साथ में उन समूर्च्छिम मनुष्य की विराधना की आपत्ति भी आएगी ही। अतः जिसमें असंख्य संमूर्च्छिम मनुष्य किलबिला रहे हो वैसे मोक वगैरह के आचमन की बात शास्त्रकार कदापि नहीं करते। शास्त्रकारों ने की हुई मोकआचमन की बात से तो प्रत्युत ऐसा सिद्ध होता है कि शरीरबहिर्निर्गत मोक तुरंत जीवसंसक्त नहीं होता। इस तरह रामलालजी महाराज द्वारा दर्शित **व्यवहार सूत्र** की मोकप्रतिमा का विचारबिंदु बेबुनियाद ही साबित होता है ।

❀ संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना होती है : तथ्य

इस तरह रामलालजी महाराज ने जो भी पाठ संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना के विरुद्ध दर्शाए हैं वे प्रत्येक पाठ संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना की संभावना के प्रति ही साक्षात् या परोक्षतया अंगुलीनिर्देश करने वाले बनते हैं। उनके अलावा ढेर सारे आगमिक प्रमाण संमूर्च्छिम की कायिक विराधना की शक्यता को ढोल-नगारा बजा कर सिद्ध करने वाले हैं। तथा अन्य भी आगमअविरुद्ध और आगमअनुसारी होने से प्रमाणभूत प्रकरणग्रंथ हैं, जिनमें संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना स्पष्टतया दर्शाई गई है ।

५५० से भी अधिक साल पहले हुए पूज्य **रत्नशेखरसूरीश्वरजी** महाराज ने **श्राद्धविधि** की स्वोपज्ञ **कौमुदी** नामक व्याख्या में स्पष्ट फरमाया है कि – *''श्लेष्मादीनां च धूल्याच्छादनादियतनामपि कुर्यात्, अन्यथा तेषु असङ्ख्यसंमूर्च्छिममनुष्यसंमूर्च्छन-विराधनादिदोषः।''*(प्रथम प्रकाश – गा.६.वृ.पुस्तक पृ.३८)

अर्थात् कफ वगैरह अशुचि निकालने के बाद श्रावक को उसके

ऊपर धूल डालना वगैरह स्वरूप यतना भी अवश्य करनी चाहिए। यदि ऐसी यतना न की जाए तो (= यदि श्लेष्म-कफ वगैरह पर धूल न डाली जाए तो श्लेष्मादि यथातथ अवस्था में लंबे समय तक रहने से और न सूखने से) संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति और विराधना होने की आपत्ति आएगी ।

इस पाठ में *''संमूर्च्छन-विराधनादिदोषः''* - ऐसा कहने द्वारा स्पष्ट किया है कि संमूर्च्छिम मनुष्यों का संमूर्च्छन = जन्म भी श्लेष्मादि रूप अशुचि शरीर के बाहर आने के बाद ही होता है । एवं उनकी विराधना भी अपनी कायिक प्रवृत्ति से शक्य है ।

श्राद्धविधिकौमुदीकार ने उक्त बात पेश करने के पश्चात् उसके आगमिक आधार के रूप में पन्नवणा सूत्र का पूर्वदर्शित (पृ.६-७) आलापक ही प्रदर्शित किया है । इससे बहुत स्पष्ट होता है कि पन्नवणासूत्र के उक्त पाठ का अर्थ करने की प्राचीन परिपाटि संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शरीरबहिर्निर्गत अशुचिओं में मानती है ।

यह ग्रंथकर्ता ५५० से अधिक वर्ष प्राचीन है। उनका उल्लेख भी अत्यंत साहजिक रूप से हुआ है । कोई विशेष प्रयोजन से या संमूर्च्छिम मनुष्य की परंपरा को सिद्ध करने के उद्देश्य से जान-बूझ कर किया गया यह प्रयोग नहीं है ।

ऐसे उल्लेख के पीछे चिंतन करने वाला अभ्यासु अवश्यमेव यह बात तो समझ जाएगा कि संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति शरीर बहिर्निर्गत अशुचि में ही मानने की परंपरा नवीन शुरू नहीं हुई है, सैकड़ों भी नहीं लेकिन हज़ारों साल पुरानी है। ऐसा ओर भी एक उल्लेख **श्राद्धप्रतिक्रमण-सूत्रवृत्ति** में मिलता है।

'श्लेष्मादीनां व्युत्सर्गेऽस्थगनाद्ययतनाऽपि प्रमादाचरितं मुहूर्त्तानन्तरं तत्र संमूर्च्छिममनुष्यसंमूर्च्छन-तद्विराधनादिमहादोषसम्भवात्... ।'

(गा.२४-२५वृत्ति)

यहाँ भी स्पष्टतया संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए श्लेष्मादि को धूल आदि से मिलाने की बात की है। साथ में संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना को 'महाविराधना' स्वरूप बताई है। असंख्य पंचेन्द्रिय मनुष्यों की विराधना छोटी तो नहीं कही जाती ! सचमुच यह दुर्भाग्य की बात है कि संमूर्च्छिम मनुष्य को अविराध्य मानने की विपरीत बुद्धि रामलालजी को हुई...।

इसके अलावा अन्य अनेक आगमसंदर्भ एवं अनेक प्रमाणप्राप्त **सेन प्रश्न** (४/९७) वगैरह प्रकरणग्रंथ के संदर्भ पेश किए जा सकते हैं कि जो संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना की संभावना का प्रतिपादन करते हैं। इन सभी प्रमाणों की तटस्थ समालोचना से कोई भी आगममनीषी समझ जाएगा कि – *''संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना कदापि संभव नहीं है''* – ऐसा ऐकांतिक कथन सचमुच आगमिक और शाश्वत सत्य से लाखों योजन दूर है । तथा 'कदापि' जैसे शब्दों से अभिव्यक्त हुए आग्रह के कारण यथाच्छंद-स्वच्छंद प्ररूपणा की कोटि में निविष्ट हो सकता है । उपर्युक्त विचार-विमर्श से आगमिक सत्य तो यही साबित होता है कि – 'संमूर्च्छिम मनुष्यों की कायिक विराधना संभवित है।'

❀ संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना में प्रायश्चित्त का उपदेश

C क्रमांक विचारबिंदु में श्रीरामलालजी महाराज संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना संबंधी किसी भी प्रकार का प्रायश्चित्त का न होना बता कर यूँ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना जैसा कुछ होता ही नहीं।' इस विषय में भी ऊहोपाह कर लें।

प्रायश्चित्तप्रतिपादक छेदसूत्र हैं और सत्य हक़ीक़त तो यह है कि छेदग्रंथों में संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना के प्रायश्चित्त बताए ही हैं। अमुक दृष्टांत देख लें।

❀ व्यवहार सूत्र में प्रायश्चित्त का उल्लेख

मृतदेह को परठने में विलंब करने से स्पष्ट है कि संमूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति और उसकी विराधना का दोष लगेगा, क्योंकि पन्नवणासूत्रकार ने *'विगतजीवकलेवरेसु'* (देखिए पृ.७) कह कर आत्मा के निकल जाने के मुहूर्त्त के पश्चात् (देखिए पृ.–१२) संमूर्च्छिम की उत्पत्ति मृतदेह में दर्शाई है । इस तथ्य को प्रमाणित करने वाली बात **श्रीव्यवहारसूत्रभाष्य** गा.३२८१ की **वृत्ति** में **श्रीमलयगिरिसूरि** महाराज ने इन शब्दों में बताई है –

''ध्यामनम् अग्निकायेन यदि तस्य कलेवरस्य क्रियते तदा ध्यामननिष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तमापद्यते, यच्चान्यत् तदपि प्राप्नोति। किं तद् ? इति चेत् ? यावन्तः प्राणाः सम्मूर्च्छन्ति तावन्तो विराध्यन्ते, यावन्तश्चाऽऽगन्तुकाः प्राणविराधनामाप्नुवन्ति तत्सर्वम् अपरिष्ठापयन् प्राप्नोति। ..... यच्चान्यत् संमूर्च्छितागन्तुकप्राणजातिविराधनाजं तदपि... ।''

इस तरह संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना में प्रायश्चित्त की आपत्ति स्पष्टतया बताई है ।

❀ बृहत्कल्पसूत्र में प्रायश्चित्त प्रदर्शन

यदि संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना असंभवित मानी जाए तो पड़े रहे आर्द्र उच्चारादि में उत्पन्न हुए संमूर्च्छिम मनुष्य भी विराध्य (= कायिक विराधना को पात्र) नहीं रहेंगे। जब कि शास्त्रकारों ने उच्चार के ऊपर उच्चारादि को परठने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है । यह प्रायश्चित्त संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से निष्पन्न होना सूचित होता है। वह प्रायश्चित्त संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधनाप्रत्ययिक ही है – वैसा मानना रहा।

उच्चार (विष्ठा) के ऊपर उच्चार व्युत्सर्जित करने में प्रायश्चित्त **बृहत्कल्पभाष्य** गा.४५५ के उत्तरार्ध में इन शब्दों में बताया है – '

'घर–वावि–वच्च–गोवय–ठिय–मल्लगछड्डणे लहुगा।''

श्रीबृहत्कल्पसूत्रभाष्य की **चूर्णि** प्रस्तुत में इस प्रकार है – (चूर्णि के प्रकाशन अनुसार उक्त गाथा का क्रमांक ४६० है।)

''कूवे वोसिरति, वावीए वोसिरति वा, घरे वोसिरति, वच्चघरे ***वच्चोवरिं*** *वा, गोप्पदे उट्टिततो वा वोसिरति, मल्लए वोसिरित्ता छड्डंति। एतेसु सव्वेसु चउलहुगा।''*

श्रीक्षेमकीर्तिसूरि महाराज द्वारा विहित **वृत्ति** इस प्रकार है :

''तथा यदि गृहे संज्ञां व्युत्सृजति, वाप्याम्, ***वर्चोगृहे वर्चस उपरि वा,*** *गोष्पदे वा, ऊर्द्ध्वस्थितो वा तथा मल्लके व्युत्सृज्य यदि परिष्ठापयति तदा सर्वेष्वेतेषु स्थानेषु प्रायश्चित्तं प्रत्येकं चत्वारो लघवः।''*(बृ.क.भा.४५५ वृ.)

यहाँ देखिए कि अत्यंत स्पष्ट उल्लेख कर के वर्चस् (विष्ठा) के वर्चोगृह (= शौचालय) में भी ऊपर उच्चारादि परठने का प्रायश्चित्त दर्शाया गया है , जो अंत में तो संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधनाप्रत्ययिक प्रायश्चित्त में ही फलित होता है । वहाँ अन्य त्रस जीवों की विराधना भाज्य = कादाचित्क + दृष्टिप्रतिलेखन आदि से परिहार्य होने के कारण, तथा त्रससंसक्त भूमि पर परठने का प्रायश्चित्त अलग बताने के कारण इस प्रायश्चित्त को संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना प्रत्ययिक गिनने में बाध नहीं है, प्रत्युत औचित्य है। सामान्य से तत् तत् जीव की विराधना में जो प्रायश्चित्त आते हैं वे **निशीथभाष्य** गाथा ११७ में दर्शाए हैं।

वह गाथा चूर्णिसहित इस प्रकार है।

❀ निशीथसूत्रभाष्य के आधार पर प्रायश्चित्त प्रतिपादन

''छक्काय चउसु लहुगा, परित्त लहुगा य गुरुगा साधारे।
संघट्टण परितावण लहु–गुरु अतिवायणे मूलं ।।११७।।

छक्कायत्ति पुढवादी जाव तसक्काइया। चउसुत्ति एएसिं छण्हं जीवणिकायाणं चउसु पुढवादिवाउक्कायंतेसु संघट्टणे लहुगो, परितावणे गुरुगो, उद्दवणे चउलहुगा। परित्तवणस्सइकाए वि एवं चेव। साहारणवणस्सतिकाइए संघट्टणे मासगुरुं, परितावणे ड्क, उद्दवणे ड्का, संघट्ट-परितावणेत्ति वयणा सुत्तत्थो (?तो) लहु-गुरुगा इति चउलहुं चउगुरुं च गहितं। सेसा पच्छिता अत्थतो दट्ठव्वा। पंचिंदियसंघट्टणे छगुरुगा। परितावइ छेओ, उद्दवेति मूलं। दोसु अणवट्ठी, तिसु पारंची। एस अक्खरत्थो।

... एवं बेइंदिएसु चतुर्लहु आढत्तं छल्लहु ठाति। तेइंदिएसु चतुर्गुरु आढत्तं छग्गुरुए ठाति। चउरिंदियाण छल्लहु छेदे ठाति। पंचेदियाण छग्गुरु आढत्तं मूले ठाति।''

प्रस्तुत चूर्णि में हिंसा होने पर तत् तत् जीवों को आश्रय कर प्रायश्चित्त बताया है । क्या इनमें संमूर्च्छिम मनुष्यों का समावेश होता है या नहीं ? एकेन्द्रिय से ले कर पंचेंद्रिय तक सभी के प्रायश्चित्त बताए हैं। तो क्या संमूर्च्छिम मनुष्य इन सबसे भिन्न जातीय है ? संमूर्च्छिम मनुष्य की पंचेंद्रिय जाति है। अतः उसमें उनका समावेश समझ सकते हैं। अथवा एक अन्य विवक्षा से उनका विकलेन्द्रिय में भी समावेश मान्य है। वह इस प्रकार –

जीवसमास प्रकरण की **वृत्ति** में **श्रीमलधारि हेमचंद्रसूरि** महाराज ने बताया है कि – *''विकलेन्द्रियग्रहणेनेह द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाः तथा सम्मूर्च्छज-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याश्च गृह्यन्ते, एषामपि मनोविकलत्वेन विशिष्टसम्पूर्णेन्द्रियकार्याऽकरणात् परमार्थतो विकलेन्द्रियत्वात्''* (गा. ४५, वृ.)

इस अन्य विवक्षा से संमूर्च्छिम मनुष्य का विकलेन्द्रिय में भी समावेश हो सकता है । अत एव तदनुरूप उसकी विराधना का प्रायश्चित्त भी प्रतिपादित हुआ ही है ।

अन्यथा जलचर वगैरह की विराधना का भिन्न नामोल्लेख पूर्वक का प्रायश्चित्त न दर्शाने के कारण उन्हें भी अविराध्य = अपनी कायिक प्रवृत्ति से अहिंस्य मानने की आपत्ति आएगी । अतः मानना ही रहा कि जलचर, संमूर्च्छिम मनुष्य वगैरह जैसे प्रभेदों के प्रायश्चित्त पूर्वोक्त प्रायश्चित्तों

में समाविष्ट हो गए हैं।

इस तरह प्रमुख तीन छेदसूत्र की साक्षी यह बात निर्विवाद साबित करती है कि 'संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना का कोई प्रायश्चित्त नहीं दर्शाया गया' – ऐसी रामलालजी महाराज की बात आधारहीन और तथ्यविहीन है। छेदसूत्र में संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से संलग्न प्रायश्चित्त का निर्देश साक्षात् या परोक्षतया अवश्य किया गया ही है – यह बात निश्चित होती है। यहाँ तो सिर्फ दृष्टांत के रूप में ही साक्षी दिए गए हैं। इसके अलावा अनेकत्र तत् तत् विराधना के अनुरूप प्रायश्चित्त दर्शाए ही हैं कि जो संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना की संभावना साबित करने वाले प्रबल गवाह स्वरूप हैं।

❀ आगमिक संदर्भों से सिद्ध होने वाला तथ्य

इस तरह अनेक आगमिक संदर्भ–तर्क–दृष्टांत आदि के प्रताप से हम इतने विचारबीज आगमिक सत्य के रूप में तय कर सकते हैं कि –

१. संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति गर्भज मनुष्य के शरीर से बाहर निकलती हुई अशुचिओं में ही होती है, शरीर के भीतर नहीं।

२. संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शरीर से बाहर निकलती हुई अशुचि में तुरंत नही, किंतु कालांतर में होती है। शास्त्र और परंपरा उस समयखंड का अंतर्मुहूर्त्त शब्द से व्यपदेश करते हैं। (देखिए पृ. १२)

३. संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना संभवित है ।

४. गर्भज मनुष्य की अशुचि अत्यंत सूख जाए या अन्य किसी में एकमेक हो कर पर्यायांतर पा जाए तो योनि के विध्वस्त होने से उसमें संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति रुक जाती है ।

५. तरल, प्रवाही, अशुचि को व्यवस्थित हिलाने में आए तो भी संमूर्च्छिम मनुष्य की योनि विध्वस्त हो सकती है। उसमें संमूर्च्छिम

मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती।

वर्तमान सभी संप्रदायों में थोड़े-बहुत अंश में, भिन्न-भिन्न मोहरों के तले चली आती अविच्छिन्न परंपरा भी यही है।

❀ अवधातव्यम्

एक बात ध्यान में रहें कि हमने अमुक मर्यादावश बहुत ही स्वल्प आगमिक संदर्भ पेश किए हैं। इसके अलावा ओर भी अनेक आगमिक सबूत मिलते हैं कि जो संमूर्च्छिम मनुष्य की बाबत में हमें स्पष्ट दिशानिर्देश देते हैं। प्रायः तमाम जैन संप्रदायों में संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए अनेकविध परंपराएँ – यतनाएँ प्रचलित हैं। तथा हम देख चुके कि यह परंपरा स्वरूप गंगा आज-कल की या 'कुछ एक दशकों' से चालु नहीं हुई, परंतु हज़ारों सालों से अपने अस्तित्व को बरकरार रखती हुई यह परंपरा है, कि जिसकी गंगोत्री अंततो गत्वा प्रभुवीर और अनंत तीर्थंकर ही सिद्ध होते हैं। परिणामतः वर्तमान में तो हमारा प्रयास इतना ही सीमित रहा है कि जिस वर्ग की ऐसी नई मान्यता बनी है कि – 'संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना शक्य नहीं' – उस वर्ग द्वारा पेश किए आगमिक संदर्भों का आशय स्पष्ट करना और उनके सामने नए उतने ही आगमिक गवाह प्रस्तुत करना, जिससे आगम के प्रति निष्ठा रखने वाला कोई भी वर्ग इस अनागमिक प्ररूपणा से प्रत्यावृत्त हो जाए। आगमिक बातों के ही कोश समान अन्य अनेक प्रकरण ग्रंथों के उद्धरण का तो यहाँ उल्लेख ही नहीं किया है, जो स्पष्टतया संमूर्च्छिम मनुष्य विषयक प्रवर्त्तमान परंपरा को प्रबल पुष्टि देने वाले हैं।

✿ प्राचीन परंपरा को ओर एक सलामी

यदि हमारा उपर्युक्त विधान अवास्तविक लगता हो तो यहाँ

श्रीदर्शनरत्नरत्नाकर ग्रंथ का उदाहरण ही पर्याप्त हो जाएगा ... **श्रीसिद्धांतसागर गणिवर्य** द्वारा विरचित **दर्शनरत्नरत्नाकर** ग्रंथ (तृतीय लहर–पाँचवा तरंग – पृ.३४८) के ये शब्द सबसे पहले अवश्य ध्यान में लें :

"यामिन्यादौ भाजने लघुनीतिर्न स्थाप्या मुहूर्त्तोपरि, तथा बहिर्भूमौ गतैरुच्चारादि व्युत्सृष्टमिति वारत्रयं भणनीयं यतस्तत्राऽसंज्ञिनराः समुत्पद्यन्ते मुहूर्त्तोपरि। तथा मुहूर्त्तोपरिस्थितनिष्ठीवन–श्लेष्म–पुरीषक्लिन्नमलादि वल–नादिना नाक्रमणीयम्। तथा निष्ठीवन–श्लेष्म–देहमल–वांत–पित्तादि भस्म–रजःप्रभृतिना एकीकार्यं यथा तत्रासंज्ञिनरा न समुत्पद्यंते, कीटिका–मक्षिकादिजंतवश्च न लगंति। तथा लघुनीतिक्लिन्नस्थाने खाले च लघुनीतिकरण–स्नान–पादधावन–जलत्यजनादि वर्जनीयम्।"

यह संदर्भ अत्यंत स्पष्टतया बताता है कि :

१. रात्रि के समय भाजन में एक मुहूर्त्त से अधिक समय तक लघुनीति स्थापित न रखें । (पृ.४६ की चर्चा के साथ अनुसंधान करें)

२. बाहर दीर्घशंका के पश्चात् संभवित संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना की अनुमोदना से बचने हेतु, वोसिरे ..... वोसिरे बोलना।

३. एक मुहूर्त्त से अधिक समय तक पड़े हुए थूँक, श्लेष्म, उच्चारादि के ऊपर पैर न आए उसकी सावधानी बरतनी । (पृ.६९ की चर्चा के साथ अनुसंधान करें)

४. थूंक, कफ, शरीर के मैल वगैरह को व्यवस्थित भस्मादि के साथ संमिश्रित करें, संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने के लिए ही तो ! (पृ.७९ की चर्चा के साथ अनुसंधान करें)

अत्यंत स्पष्टतया और अतीव साहजिकता से उल्लिखित, आगम–परंपरानिष्ठ तटस्थ विद्वान के हदय में प्रकाश फैलाने वाला यह पाठ १५–१६वीं सदी में हुए **निगमगच्छीय आचार्य इन्द्रनंदिसूरि** म. के शिष्य **श्रीसिद्धांतसागर गणि** द्वारा लिखित है । 'अमुक दशकों के पहले शुरू

हुई यह परंपरा है' – ऐसे रामलालजी महाराज के कथन के लिए अब अधिक क्या कहना ? आगम–शास्त्रसंशोधक बन जाना यह कोई बाएँ हाथ का खेल नहीं हैं।

संक्षेप में, ऐसे तो अनेक प्रकरण ग्रंथ हैं। हमारा यह प्रयास मर्यादित सामग्री से प्राप्त बहुत कम संदर्भों से ही पूर्ण हुआ है। किंतु अन्य अनेक आगम संदर्भों का एवं प्रकरण संदर्भों का समालोकन और संकलन प्रस्तुत विचार के प्रति अभी भी शेष ही है । यद्यपि अधुना उसकी आवश्यकता भी नहीं है, क्योकिं पेश किए सबूत और संदर्भ इतना स्पष्ट और स्वच्छ प्रकाश, संमूर्च्छिमविराधना के विषय में फैलाते हैं, कि जिसमें संमूर्च्छिम विषयक अज्ञान रूपी अंधेरे को बोरिया बिस्तर समेट कर नौ दो ग्यारह होना ही रहा । यही तो प्रस्तुत प्रयाय का ध्येय है।

❁ रामलालजी महाराज की परंपरा क्या थी?

रामलालजी महाराज के गुरुमहाराज आचार्य **श्रीनानेशजी** द्वारा **'जिणधम्मो'** नामक ग्रंथमाला का सृजन किया गया है, जिसका साद्यंत अवलोकन स्वयं रामलालजी महाराज ने किया है। इस ग्रंथमाला के प्रथम भाग में पृ. ३६९ पर लिखे उनके ही शब्द देखें : (ग्रंथ की भाषा गुजराती होने से यहाँ उसका अनुवाद पेश किया है)

''मनुष्यादि के शरीर की जब अशुचि अलग होती है, तब अंतर्मुहूर्त्त जितने समय में उसमें असंख्यात संमूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं और मर सकते हैं।''

सुस्पष्ट है कि रामलालजी महाराज की गुरुपरंपरा भी संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति शरीर के बाहर ही स्वीकृत करती है... ऐसी परंपरा को सहसा बदलने के पीछे क्या कोई खास प्रयोजन है? रामलालजी महाराज तटस्थता रखेंगे तो अवश्य ऐसे परंपराघाती पंथ से प्रत्यावृत्त होंगे... प्रभु करे, वैसा ही हो!

❁ प्राचीन प्रामाणिक परंपरा का अपलाप न करें

वर्तमान में जब अपने पास श्रुत अल्प हो, जो श्रुत है उसका पर्याप्त और सर्वांगीण बोध न हो, वैसा विशिष्ट गुरुआम्नाय न हो तब हमें मिले हुए दो–चार संदर्भों के बल पर अपनी मतिअनुसार उसके किए गए अर्थघटन के आधार पर किसी प्राचीन, प्रामाणिक, अविच्छिन्न रूप से चली आ रही परंपरा के मूल में ही अपना कल्पनारूपी हथौड़ा मारना तो महापातकरूप साबित हो सकता है ।

वह भी ऐसी परंपरा कि जिसके मूल में किया हुआ प्रहार अंततः तो असंख्य संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय मनुष्यों की स्मशानयात्रा निकालने में निमित्त बनने वाला हो । वैसा कृत्य तो अति कनिष्ठतम कक्षा को प्राप्त होता है।

अनेक प्राचीन पुरुषों द्वारा प्रमाणित की गई परंपरा स्वयं एक सिद्धांत है – इस बात को भूलनी नहीं चाहिए । परमात्मा ने इसीलिए जीताचार–जीतव्यवहार आदि को, आगमव्यवहार वगैरह के साथ तुल्यवत् बलवान = तुल्यनिर्जराकारक बताए हैं। संमूर्च्छिम मनुष्य की प्रमाणित परंपरा को तो हम देख चुके उस प्रकार अनेक आगमिक सबूतों का प्रबल समर्थन है । अतः उसका अतिक्रमण अंततः तो आगम की आशातना में रूपांतरित होगा ।

❁ उपसंहार

अतः सर्व आगममनीषिओं को या आधुनिक अनुसंधाताओं को हमारी करबद्ध प्रार्थना है कि – वर्तमान श्रुत की अल्पता – अपूर्णता को देखते हुए उन्हें अपने आगमिक संशोधन को एक लक्ष्मणरेखा द्वारा नियंत्रित करना चाहिए । अमुक–तमुक विषयक स्पष्ट आगमिक शब्द न दिखने

मात्र से उसे अर्वाचीन निर्णित कर के अपनी संशोधक के रूप में ख्याति की प्राप्ति के लिए या 'मेरे जैसा कोई संशोधक है ही नहीं' – ऐसा प्रस्थापित करने के लिए उत्सुक नहीं बनना चाहिए । परंतु आगमिक तथ्य और परंपरा को पुष्ट करे वैसे ही संशोधन में निरत रहना चाहिए ।

खंडन एवं निषेध से प्राप्त प्रसिद्धि सुलभ होने पर भी वह अल्पजीवी होती है। जब कि विधेयात्मक कार्य से प्रसिद्धि की प्राप्ति में विलंब होने पर भी वह चिरंजीवी होती है एवं प्रभु के शासन को लाभदायी साबित होती है।

जो बात चारों संप्रदायों में मान्य है, आगमों में जिसके स्पष्ट निर्देश मौजूद हैं, वैसी एक प्रामाणिक संमूर्च्छिम मनुष्य की परंपरा के लिए रामलालजी महाराज ने संशोधन करने के लिए मेहनत की ... परंतु मेरी उन्हें नम्र बिनती है – जिसका मूल आगम में स्पष्ट निर्देश है उस मूर्तिपूजा को एवं मुहपत्ति विषयक परंपरागत विधि को छोड़ कर नई परंपरा कब से शुरू हुई ? तद्विषयक यदि तटस्थ संशोधन करोगे तो जैन समाज की एकता का एक अद्भुत कार्य होगा, श्रद्धेय **आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज** जैसी घटना का शायद जैन इतिहास साक्षी बनेगा।

अंततः श्रीरामलालजी महाराज को भी क्षमाप्रार्थना पूर्वक विज्ञप्ति है कि आगमिक सत्य जब अत्यंत स्पष्टतया संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना का स्वीकार करता है, आपको भी इस लेख द्वारा भीतर से इस बात की प्रतीति हो चुकी होगी, तब आपके लेख से किसीके मन में भ्रमणा चिरंजीवी न बन जाए और अनवस्था का वारण हो तदर्थ सौहार्दपूर्ण एकाध जाहिर कदम अवश्य उठाना, जो आपकी आगमनिष्ठा और सत्यप्रियता को प्रमाणित करेगा ।

आगममाता की गोद में निश्चिंत हो कर क्रीडा करने का जो आनंद मिला उसका 'गुलाल' करने की यह बालचेष्टा मात्र है ।

जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ भी लिखा हो तो
त्रिविध त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् ।

वि.सं. २०७३
चैत्र कृष्णा षष्ठी ।
पूज्यपाद सकलसंघहितचिंतक
आचार्य श्रीभुवनभानुसूरीश्वरजी
महाराजा का जन्मदिन।
राजकोट।

आचार्य यशोविजयसूरि
(श्री प्रेम-भुवनभानुसूरि समुदाय)

रामलालजी महाराज का लेख एवं उनके प्रत्येक विचारबिंदु की क्रमिक और संक्षिप्त समीक्षा सिंहावलोकन न्याय से देखने की इच्छा हो तो परिशिष्ट ४ का अवश्य अवलोकन करें ।

प्रस्तुत परंपरा के प्रति संनिष्ठ वाचकवर्ग !

पुस्तिका पढ़ कर इस विषय में आपके

अभिप्राय-प्रतिभाव अवश्य भेजें ।

आचार्य यशोविजयसूरि
C/o. महेन्द्रभाई झवेरी
एच. भेदा एन्ड कुं.
705, 'प्रशम', कस्तुरबा गांधी रोड,
धरम सीनेमा के पास, राजकोट - ३६० ००१. (गुजरात राज्य)
मो. : ८२६४४ ४४४४७

परिशिष्ट – १
उद्धृत शास्त्रसंदर्भों की सूची

अचित्तानामपि ३४
अणुग्गए सूरिए इति निशीथे ५८
'अणुग्गए सूरिए' – इस प्रकार ५८
अट्ठ पवयणमाताओ ३
अत्रापि संमूर्च्छिममनुष्यविषये ७
अंतो मणुस्सखित्ते ३९
अंतोमुहुत्ताउया २४
अंतो णिवेसणस्स काइभूमिओ ४८
अथ मार्गान्तराभावात्तेनैव गतः ७०
असंसत्तगहणी उण्हे वोसिरति ८९
असंसत्तगहणी तेण ण ८९
आगम में उच्चार २७
इमं कारणं – जं संजमनिमित्तं ७४
इस आगम पाठ में १४
उच्चार–प्रश्रवण–खेल ४
उच्चार–प्रस्रवणादिरक्षणे १२
उच्चार–पासवण–खेलमत्तए ७८
उडुबद्धे रयहरणं, वासावासासु ७२
उभओ नहसंठाणा ७२
उभयोः पार्श्वयोः नखसंस्थाना ७२
एगिंदिय–नेरइया २१
एता एव योनीः संवृत २१
एवमुक्ते सति यद्यसौ श्रावक ६६

औदारिकम्, उदारं ३०
औदारिकस्य मनुष्य २९
कइविहा णं भंते ! १८
कइविहा णं... तत्र १८
कप्पइ निग्गंथीणं अंतो लित्तं ६२
कर्मभूमिषु चक्रास्त्रहलभृद् १०
कहि णं भन्ते ! ७
कहि णं भंते ! सम्मूच्छिममणुस्सा २२
काईयभूमी अप्पा ६०
किंची सकायसत्थं किंची ९३
किञ्चित् शस्त्रं स्वकाय एव ९३
कूवे वोसिरति, वावीए वोसिरति १०१
खेलमल्लकस्य भस्मना ७७
घर-वावि-वच्च-गोवय-ठिय १००
चउभागावसेस ४७
चक्रिस्कन्धावार ४०
छक्काय चउसु लहुगा, परित्त १०१
छक्कायत्ति पुढवादी १०२
छप्पन्नाए अंतरदीवेसु ३९
जे भिक्खू उच्चार-पासवणं ९०
जे भिक्खू तओ ४७
जे भिक्खू राओ वा वियाले ४६
जे भिक्खू साणुप्पए उच्चार ४७
जो भिक्षु दिन में ५३
जो साधु या साध्वी ५५

जे भिक्खु दंडयं वा लट्ठियं ७२
जं वेलं कालगओ ८१
जाए वेलाए कालगओ दिया ८२
जो भिक्षु रात्रि अथवा विकाल ५६
जोयणसयं तु गंताऽणाहारेणं ८२
डयलग-ससरक्ख-कुडमुह ७१
णवणीयतुल्ल ४६
तथा यदि गृहे संज्ञां व्युत्सृजति..... १०१
तं परिण्णाय मेधावी ४४
तं च लोणादि ८५
तत्थेव त्ति थंडिले ९०
ततो निग्गहिओ छलूगो..... ७६
तेउक्काइयाणं णो सीता..... ९२
तेणिच्छिए तस्स जहिं अगम्मा ६६
थीनरसंजोगेसु..... ३९
दसविधे ओरालिते असज्झातिते २९
दुरुपलक्ष्यो गुप्ताकार २०
ध्यामनम् अग्निकायेन यदि १००
नगर की गटरों..... २७
नारकैकेन्द्रियदेवानां (तत्त्वार्थभाष्य) १९
नारकैकेन्द्रियदेवानां (तत्त्वार्थवृत्ति)..... १९
नेरइयाणं भंते !..... १८
नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स ६५
नो कप्पइ निग्गंथाणं ६२
नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए ६५

पंच समितीतो पन्नत्ताओ ३
परेण स्वस्य ४३
पात्र में विसर्जित १०
प्रवचनस्य = द्वादशाङ्गस्य ३
बादर–सुहुमुदयेण ४३
बादराणां पुनः ४३
बारसंगुलदीहा ७२
बेइंदियाणं पुच्छा १८
भूत्वाऽङ्गुलस्या १०
मत्तासईए ६७
मनुष्ययोनिस्वरूपमिदं ३४
मनुष्याणां जन्म मरणं २६
मनुष्यादि के शरीर की १०६
मल त्यागने के बाद ९०
यत्रार्काशवो न ५८
यदुदयादन्यजीवाना ४२
यह भी ध्यान रखना ९
यामिन्यादौ भाजने १०५
रात्रि विकाले ५७
रात्रौ मात्रके ६७
वरिसाकाले ७८
विकलेन्द्रियग्रहणेनेह १०२
विद्धत्थाविद्धत्था ८३
विध्वस्ताऽविध्वस्ता ८३
शरीर के भीतर रहे ३४

शुक्र-सिंघाणक-श्लेष्म १०
शुक्रों में ८०
श्लेष्मादीनां च ९७
श्लेष्मादीनां व्युत्सर्गे ९८
सम्मुच्छणपंच्चक्खे २०
सीदुण्हमिस्सजोणी १९
से किं तं मणुस्सा ? ६
संमुच्छिमपंचिंदिय १८
संमूच्छिममणुस्साणं ३७
सिंघाणएसु वंतिसु ३९
संवृता = सङ्कटा १९
संवृतो = दुरुपलक्ष्यः १९
संमूर्च्छनजपञ्चेन्द्रियेषु २०
संमूर्च्छिम मनुष्यों की ९९
सव्वेसु चेव २७
से बेमि - संतिमे तसा पाणा ४४
सूर्यास्त के पूर्व ४८
सोणिय मंसं चम्मं २९
सोणिय मंसं चम्मं ३०
सोणिय-मुत्त-पुरीसे २९
सर्वनाशे समुत्पन्ने ६३
सा च द्विविधा ६६
से भिक्खु वा ६९
सुक्केसु वा = शुक्रेषु वा ७९

परिशिष्ट – २

उपयुक्त + उल्लिखित ग्रंथों की सूचि

१. आचारांग निर्युक्ति ९३

२. आचारांग सूत्र ४४,५४,६९,७०,७१,७३,७४

३. आचारांगसूत्रवृत्ति (श्रीशीलांकाचार्यजी विरचित) ...७०,९३

४. आवश्यकनिर्युक्ति २९,३०,८१,९३

५. आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि ७६

६. आवश्यकनिर्युक्तिवृत्ति (श्रीहरिभद्रसूरिजी विरचित) ८१

७. आवश्यक भाष्य ७६

८. आवश्यकभाष्य वृत्ति ७६

९. ओघनिर्युक्ति ७२

१०. ओघनिर्युक्ति वृत्ति (श्रीद्रोणाचार्यजी विरचित) ७२

११. गोम्मटसार २०,४३

१२. गोम्मटसार कर्णाटीवृत्ति.....४३

१३. गोम्मटसार तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति २०,४३

१४. जिणधम्मो १०६

१५. जीवसमास २१

१६. जीवसमास वृत्ति
(मलधारी श्रीहेमचंद्रसूरिजी विरचित) २१,३४,१०२

१७. जीवाभिगम सूत्र वृत्ति (श्रीमलयगिरिसूरिजी विरचित) ...२६

१८. जीवाभिगम संग्रहणी ३९

१९. ठाणांग सूत्र / स्थानांग सूत्र ३,४,१७,२२,२८,२९,३३

२०. ठाणांग सूत्र वृत्ति (श्रीघासीलालजी विरचित) ३०
२१. तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक १९,४२
२२. तत्त्वार्थसूत्र वृत्ति (श्रीहरिभद्रसूरिजी विरचित) १९
२३. तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक १९
२४. तत्त्वार्थ श्रुतसागरी वृत्ति.....१९
२५. तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञभाष्य.....१९
२६. त्रिलोक प्रज्ञप्ति २०
२७. दर्शनरत्न रत्नाकर..... १०५
२८. दशवैकालिकसूत्र.....७०
२९. दशवैकालिक सूत्रभाष्य.....८३
३०. दशवैकालिक सूत्रवृत्ति (श्रीहरिभद्रसूरिजी विरचित) ८३
३१. निशीथपंजिका ५८,५९
३२. निशीथभाष्य . ४६,६०,६५,७१,७२,७८,८१,८२,८४,९१,१०१
३३. निशीथसूत्र – अनुवाद (श्री कनैयालालजी कृत) ...५३,९०
३४. निशीथसूत्र – अनुवाद (लाडनूं से प्रकाशित).....५६
३५. निशीथसूत्र–अनुवाद (श्रीलीलमबाई कृत) ५५
३६. निशीथसूत्र ९,१०,४४,४६,४७,४८,५०,
..... ५१,५२,५३,५५,५९,६०,६२,६३,७२,९०
३७. निशीथसूत्रचूर्णि ... ४६,४८,६०,७४,७८,८३,८५,८९,९०,९१
३८. निशीथहुंडी ५७
३९. पन्नवणा सूत्र / प्रज्ञापना सूत्र ६,१०,१४,१७,१८,२२,
..... २७,२८,३२,३३,३६,४०,४१,७५,७९,९२,९५,१००

४०. पन्नवणा सूत्र वृत्ति (श्रीमलयगिरिसूरिजी विरचित) ... ७,१८
४१. पन्नवणा सूत्र वृत्ति (श्रीघासीलालजी विरचित) ७९
४२. प्रश्नपद्धति ११,५९,९६,५८
४३. प्रश्नपद्धति (अनुवाद).....५८
४४. बृहत्कल्पसूत्र.....५०,६२,६३,६५,६९
४५. बृहत्कल्पभाष्य ६४,६५,६६,१०१
४६. बृहत्कल्पभाष्यचूर्णि १०१
४७. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति (श्रीक्षेमकीर्तिसूरिजी विरचित).....६६
..... ६७,७७,८५,१०१
४८. भगवती आराधना.....१०
४९. भगवती आराधना विजयोदयावृत्ति १०,४०
५०. भगवती सूत्र ३७
५१ महानिशीथसूत्र ५९
५२. व्यवहार सूत्र ९६,९७
५३. व्यवहार सूत्र भाष्य ४६
५४. व्यवहार सूत्रभाष्य वृत्ति (श्रीमलयगिरिसूरिजी विरचित) १००
५५. स्थानांग सूत्र वृत्ति (श्रीअभयदेवसूरिजी विरचित) ४,१९,२९
५६. समवायांग सूत्र..... ३
५७. समवायांग सूत्र वृत्ति (श्रीअभयदेवसूरिजी विरचित)..... ३
५८. सेन प्रश्न ९९
५९. श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति ९८
६०. श्राद्धविधि कौमुदी ९७,९८

परिशिष्ट – ३
विशेषनामों की सूचि

अभयदेवसूरिजी महाराज ३,४,११,१२,२९,३०,५८,५९
आगम प्रकाशन समिति (ब्यावर) ९,५३
आत्मारामजी महाराज १०८
इन्द्रनंदिआचार्य १०५
उमास्वातिजी महाराज १९
कनैयालालजी महाराज ९
क्षेमकीर्तिसूरिजी महाराज ६६
गुरुप्राण फाउन्डेशन ५५
घासीलालजी महाराज १९,३०,७९,८०
जयघोषसूरिजी महाराज १
जयाचार्यजी महाराज ५७
जैन विश्वभारती, लाडनूं ८,१०,५५
तुलसी आचार्य १०,५५
तेरापंथी ९,१०,५५
दिगंबर ८,१०,१२,१९
द्रोणाचार्यजी महाराज ७२
धर्मतिलकविजयजी महाराज ५९
नंदीश्वर तीर्थ २३
नानेश आचार्य १०६
प्रेम–भुवनभानुसूरि समुदाय १०९
भद्रबाहुस्वामी १२

भुवनभानुसूरिजी महाराज..... १०९
मधुकर मुनि ९,१०,५३
मलयगिरीसूरिजी महाराज ७,८,१८,१९,२६,१००
रत्नशेखरसूरीश्वरजी ९७
रामलालजी महाराज १,२,४,१३,१४,१७,२३,२४,
..... २५,२७,३२,३३,३४,३६,३७,४१,४२,४३,४४,
..... ४५,४६,४८,४६,४९,५२,६२,६३,६४,६९,७०,७४,
..... ८०,८१,८६,८९,९१,९६,९९,१०६,१०८,१०९
रोहगुप्त ७६,७७
लीलमबाई महासतीजी..... ५५
वर्धमानस्वामी ७६
वैशेषिक ७७
श्यामाचार्यजी महाराज ७
श्वेतांबर.....८,११,१२
शीलांकाचार्यजी महाराज ७०,९३
स्थानकवासी १,८,१९,३४,५२,५३,७९
साधुमार्गी संप्रदाय १
सावद्याचार्य ५९
सिद्धान्तसागरगणी १०५
हरिभद्रसूरिजी महाराज १९,७६,८३
हरिश्चंद्रविजयजी ११,१२,५८,५९
हेमचंद्रसूरिजी महाराज (मलधारी) ३४

परिशिष्ट - ४

श्रीरामलालजी महाराज लिखित

'संमूर्च्छिम मनुष्य : आगमिक सत्य' नामक लेख

जय गुरु नाना

जय महावीर

जय गुरु राम

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

(राजस्थान संस्था रजिस्ट्रीकरण 1958 के अन्तर्गत रजिस्टर्ड)

हुलासमल संचेती
राष्ट्रीय अध्यक्ष
094144 51333
☎ 0771-2532091
email : vijaysancheti32@gmail.com

सम्पतराज रांका
राष्ट्रीय महामंत्री
096190 31008
☎ 022-61936000
☎ 022-61936014
☎ 022-61936001
email : sampatjain1969@gmail.com

सुन्दरलाल सिपाणी
राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष
088847 10687
☎ 080-25589183
email : sipanienter@gmail.com

क्रमांक .....

दिनांक 07/12/2016
स्थान : मुम्बई

पू. आचार्यश्री वि. यशोविजयसूरीश्वरजी म.सा., आदि ठाणा के चरणों में वंदना एवं सुख-साता पृच्छा।

संमूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति, विराधना एवं प्रायश्चित्त आदि के सम्बन्ध में आगमादिक प्रबल आधारों से आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलाल जी म.सा. की जो विचारणा रही .. वह संलग्न पृष्ठों में निवेदित की जा रही है।

Sampat Jain

(सम्पतराज रांका)

राष्ट्रीय महामंत्री

(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ)

प्रधान कार्यालय : 'समता भवन' आचार्य श्री नानेश मार्ग, नोखा रोड़, बीकानेर-334401 (राज.)
फोन : 0151-2270261-62, 2270359, फैक्स नं. : 0151-2270359
email: absjsbkn@yahoo.co.in, Visit us: www.shriabsjainsangh.com

धार्मिक एवं शैक्षणिक केन्द्र : आचार्य श्री नानेश ध्यान केन्द्र, राणाप्रताप नगर, पद्मिनी मार्ग, उदयपुर (राज.)
फोन : 0294-2490306, फैक्स नं. : 0294-2490717
email : asndkudaipur@gmail.com

सम्मूर्च्छिम मनुष्य : आगमिक सत्य

(प्रस्तुत में संक्षेपरुचि जीवों के लिए रामलालजी महाराज के लेख के प्रत्येक विचारबिंदु की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की जाती है। विशेष जिज्ञासु, प्रत्येक समीक्षा के बाद निर्दिष्ट पृष्ठ संख्या के आधार पर उस संक्षिप्त समीक्षा की विस्तृत माहिती प्राप्त कर सकेंगे। यहाँ जो तर्क दर्शाए हैं उसके अलावा अन्य ढेर सारे तर्क-तथ्य वगैरह के लिए संपूर्ण पुस्तक का पठन करना ही रहा।)

१. **प्रश्नपद्धति तथा निशीथपंजिका जैसे प्राचीन ग्रंथ के स्पष्ट उल्लेख द्वारा प्रस्तुत परंपरा ८००-९००-१००० से भी अधिक साल प्राचीन सिद्ध। (पृ.११,१२,१३)**

२. **शास्त्रअविरुद्ध, सुविहित श्रमण परंपरा में वृत्त-अनुवृत्त परंपरा भी शास्त्रसिद्ध ही कही जाती है। संमूर्च्छिम की प्रवर्त्तमान परंपरा को तो शास्त्रों का प्रबल आधार है। (पृ.१२ वगैरह)**

३. **इस अर्थ से प्रवर्त्तमान परंपरा की अद्‌भुत सिद्धि होती है। (पृ. ८०)**

४. **'अथवा' शब्द असंगत। (पृ.२७)**

क्या हमारी कायिक प्रवृत्तियों से सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना संभव है? यह प्रश्न पिछले कई वर्षों से उभरता रहा। इस संदर्भ में अनेक संप्रदायों के प्रमुखों से पृच्छा भी की गई। उनसे प्राप्त उत्तरों पर विमर्श किया गया। स्वाध्याय करते हुए आगमिक संदर्भों पर जब-जब ध्यान आकृष्ट होता, मन थम जाता। अनुप्रेक्षा के क्षणों में वे सूत्र उभरकर सम्मुख आ जाते। उन सूत्रों एवं उनके अर्थों पर समीक्षात्मक दृष्टिपूर्वक विश्लेषण करने से यह तथ्य प्रकट हुआ कि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना के सन्दर्भ में जो मान्यताएँ चल रही हैं, वे बहुत अधिक प्राचीनकाल से नहीं हैं।[२] शायद कुछ ही दशकों या शतकों से यह परम्परा चली हों। कई परम्पराएँ कुछ-कुछ कारणों से चल पड़ती हैं।[२] वे सारी आगम सम्मत ही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उक्त परम्परा के सन्दर्भ में जब आगम अभिमत देखा जाये तो यह परम्परा आगम सम्मत नहीं ठहरती। शास्त्रीय धरातल से अनुप्रेक्षा करते हुए यह विनिश्चय हुआ कि **'सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना हमारी कायिक प्रवृत्तियों से संभव नहीं है।'** वैसी स्थिति में तज्जन्य प्रायश्चित्त भी निरर्थक सिद्ध होता है।

इस संदर्भ में जिन-जिन आगमपाठों व अन्य ग्रन्थों का मंथन किया गया उनमें से कतिपय स्थलों की समीक्षा प्रस्तुत है-

श्री प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पत्ति स्थान आदि के विषय में इस प्रकार का वर्णन किया है :- वे सम्मूर्च्छिम मनुष्य कैसे होते हैं? भगवन्! सम्मूर्च्छिम मनुष्य कहाँ उत्पन्न होते हैं?

गौतम! मनुष्य क्षेत्र के अन्दर, पैंतालीस लाख योजन विस्तृत अढ़ाई द्वीप समुद्रों में, पन्द्रह कर्मभूमियों में, तीस अकर्मभूमियों में एवं छप्पन अंतर्द्वीपों में, गर्भज मनुष्यों के उच्चारों (विष्ठाओं-मलों) में, पेशाबों (मूत्रों) में, कफों में, सिंघाण (नाक के मैलों) में, वमनों में, पित्तों में, मवादों में, रक्तों में, शुक्रों (वीर्यों) में,[३] पहले सूखे हुए परन्तु पुनः गीले शुक्र पुद्‌गलों में, मरे हुए जीवों के कलेवरों (लाशों) में, स्त्री-पुरुषों के संयोगों में, [ग्राम की गटरों-मोरियों में], नगर की गटरों-मोरियों में[४] अथवा सभी अशुचि (अपवित्र-गंदे) स्थानों में सम्मूर्च्छिम मनुष्य (माता-पिता के संयोग के बिना स्वतः) उत्पन्न होते हैं। इन सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र की होती है। ये असंज्ञी, मिथ्यादृष्टि एवं

सभी पर्याप्तियों से अपर्याप्त होते हैं। ये अंतर्मुहूर्त की आयु भोग-कर मर जाते हैं। यह सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की प्ररूपणा हुई।[1]

(A-i) इस आगम पाठ में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति शरीर के भीतर रहे मल, मूत्र आदि में नहीं होती है, न ही ऐसा कहा है कि शरीर से बाहर निकलने के बाद एक मुहूर्त तक मल-मूत्र आदि में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। सूत्र में सामान्य रूप से सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पन्न होने के स्थानों का निर्देश किया है। वे स्थान चाहे शरीर के अन्दर हो या बाहर, कहीं भी सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न हो सकते हैं। इतना सुस्पष्ट आगमिक कथन होने के बावजूद पिछले कुछ समय से ऐसा माना जाने लगा कि शरीर में रहे मल-मूत्रादि में एवं शरीर से बाहर निकलने के बाद एक मुहूर्त तक उनमें सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती।

(A-2) यदि ऐसा कहा जाये कि 'शरीर की गर्मी के कारण शरीर के भीतर रहे मलादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति नहीं होती है' तो ऐसा कथन भी आगमानुसारी नहीं है, क्योंकि श्री प्रज्ञापना सूत्र के नौवे पद में योनि (उत्पत्ति स्थान) का वर्णन करते हुए सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की शीत, उष्ण एवं शीतोष्ण-ये तीनों योनियाँ मानी गयी हैं। यथा-

"भगवन्! सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की क्या शीत योनि होती है, उष्ण योनि होती है अथवा शीतोष्ण योनि होती है?

गौतम! उनकी तीनों प्रकार की योनि होती है।"[2]

इस कथन से यह भी ज्ञात होता है कि शरीर के भीतर की गर्मी सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पन्न न होने में हेतु नहीं हो सकती अर्थात् शरीर की गर्मी उनकी उत्पत्ति में बाधक नहीं है।

५. अस्वाध्याय सूत्र में भी रक्तादि का सामान्यतया उल्लेख होने से शरीर के भीतर रहे रक्तादि से भी असज्झाय की आपत्ति। (पृ.३२)

– संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थान के रूप में निर्दिष्ट ऐसी लम-मूत्रादि स्वरूप अशुचि शरीर से बाहर निकलने के बाद ही अशुचि के रूप में व्यवहर्तव्य है। (पृ. २८ से ३३)

– विगतजीवकलेवर कहने द्वारा सजीव शरीर का निषेध किया। सजीव शरीर रक्तादि के समूहस्वरूप होने से शरीर के भीतर रहे रक्तादि में संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति का निषेध स्पष्टतया फलित होता है। (पृ. १५,१६)

६. मनुष्य आत्मा प्रतिबंधक होने से शरीर के भीतर संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति नहीं होती। (पृ. १५,१६)

७. उष्णयोनि वाले जीवों के लिए भी गरमी मृत्यु आपादक – नाशक – उत्पत्तिप्रतिरोधक बन सकती है। (पृ. ९२ से ९५)

(1) से किं तं सम्मुच्छिममणुस्सा ? कहि णं भंते! सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति ? गोयमा! अंतोमणुस्सखेत्ते पणुतालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पण्णाए अंतरदीवएसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा, पासवणेसु वा, खेलेसु वा, सिंघाणेसु वा, वंतेसु वा, पित्तेसु वा, पूएसु वा, सोणिएसु वा, सुक्केसु वा, सुक्कपोग्गलपरिसाडेसु वा, विगतजीवकलेवरेसु वा, थीपुरिससंजोएसु वा, [गामणिद्धमणेसु वा], नगरणिद्धमणेसु वा, सव्वेसु चेव असुइएसु ठाणेसु, एत्थ णं सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छंति। अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए असण्णी मिच्छद्दिट्ठी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति। से त्तं सम्मुच्छिममणुस्सा।

– श्री प्रज्ञापना सूत्र, पद 1 (सूत्र 93), संपादक- मुनि पुण्यविजय जी

(2) "सम्मुच्छिममणुस्साणं भंते! किं सीता जोणी उसिणा जोणी सीतोसिणा जोणी ? गोयमा! तिविहा वि जोणी।"

– श्री प्रज्ञापना सूत्र, पद 9, (सूत्र 749), सम्पादक- मुनि पुण्यविजय जी

(A-3) इसके साथ ही शरीर के भीतर रहे मल में कृमि रूप द्वीन्द्रिय आदि जीवों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष अनुभव की जाती है। चूंकि आगम में उच्चार (मल) को सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति योग्य योनि कहा गया है, तो शरीर में रहे उच्चार में भी द्वीन्द्रियादि जीवों की तरह सम्मूर्च्छिम मनुष्य भी उत्पन्न हो सकते हैं, ऐसा सिद्ध होता है।

(A-4) शरीर के भीतर रहे मलादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति सुनिश्चित होने का एक और महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि उपर्युक्त आगमपाठ में आगमकारों ने स्त्री-पुरुष संयोग में भी सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति मानी है। स्त्री-पुरुष संयोग मनुष्य स्त्री के शरीर के भीतर होता है एवं वहाँ सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से मानी गई है। इसी तरह शरीर के भीतर रहे मलादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति हो सकती है। इससे सुनिश्चित होता है कि मनुष्य के शरीर में रहे मलादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति संभव है।

आगमों में कहीं ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जो शरीर के भीतर रहे मलादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति का निषेध करता हो। अत: यह असंदिग्ध रूप से निर्णीत होता है कि शरीर के भीतर रहे मलादि में भी सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति हो सकती है।

चूँकि शरीर के भीतर विद्यमान मलादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति संभव है। इसलिए शरीर से विसर्जन के तुरन्त बाद भी उत्पत्ति की प्रक्रिया गतिशील रह सकती है। अत: विसर्जन के पश्चात् एक मुहूर्त तक सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पन्न न होने की बात भी निराधार लगती है।

उपर्युक्त आगमिक तथ्य को आत्मसात् कर लेने के अनन्तर हमारे लिए आगम का यह दृष्टिकोण भी समझना सरल हो जाता है कि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना हमारी काया से संभव नहीं है। जैसे शरीर के भीतर रहे सम्मूर्च्छिम मनुष्यों का संघट्टा (स्पर्श) विराधना रूप नहीं है, वैसे ही शरीर से बाहर निकलने के एक मुहूर्त बाद भी उच्चार-प्रस्रवण युक्त भाजन का संस्पर्श, उच्चार-प्रस्रवण का बाहर परिष्ठापन, उस भाजन को पोंछकर सुखाना आदि क्रियाओं से भी सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना संभव नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि शरीर के भीतर रहे सम्मूर्च्छिम मनुष्यों का संघट्टा अशक्य परिहार है अर्थात् उस संघट्टे का निवारण शक्य नहीं है, लेकिन शरीर से बाहर निकलने के बाद संघट्टे मे विराधना क्यों नहीं मानी जाये? तो ऐसा कथन भी आगम संगत नहीं है।

(B-1) इस सन्दर्भ में मुनि की रात्रि एवं विकाल सम्बन्धी उच्चार-प्रस्रवण परिष्ठापन विधि को भी समझने का यत्न करें। सामान्यत: मुनि उच्चार भूमि सम्पन्न स्थान में रुकते हैं। सूर्यास्त के पूर्व उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन करते हैं एवं रात्रि या विकाल में बाधा होने पर उस भूमि पर जाकर वहीं उच्चार-प्रस्रवण का विसर्जन करते हैं। कदाचित् बाहर जाकर मल-मूत्र विसर्जन की स्थिति न हो तो मुनि उच्चार-प्रस्रवण के विसर्जन हेतु निर्धारित भाजन (पात्र) में विसर्जन करके सूर्योदय के पश्चात् उसे परठते हैं। यहाँ आगम का यह आशय समझने योग्य है कि यदि मल-मूत्रादि के विसर्जन के एक मुहूर्त बाद तत्संबंधी भाजन का स्पर्श आदि क्रियाएं

८. **शरीर के भीतर रहे मलादि को संमूर्च्छिम मनुष्य के उत्पत्तिस्थान के रूप में बताए ही नहीं। बाहर रही अशुचि में ही संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति पन्नवणासूत्र द्वारा प्रतिपादित है। (पृ.१२ से ४०)**

९. **स्त्री-पुंसंयोग = शुक्र-शोणितसंयोग। शुक्र तो शरीरनिर्गत होता ही है। शोणित भी मूलस्थान से च्युत होने के पश्चात् ही शुक्र-शोणितसंयोग होता है। इस विषय में विशेष शास्त्राधारित स्पष्टता के लिए देखिए पृ. ३४ से ३६।**

१०. **विवृत योनि के तर्क से (पृ. १७ से २०), ढाई द्वीप में ही जन्म-मरण की बात से (पृ. २२-२५), अवस्थित संख्या वाले विचार से (पृ. ३७-३८) तथा पूर्वोक्त अनेक प्रमाण से शरीर के बाहर संमूर्च्छिम मनुष्य की उत्पत्ति सिद्ध। (पृ. ३७-४०)**

११. **संमूर्च्छिम मनुष्य आखिर बादर, त्रस, पंचेन्द्रिय जीव है। तो फिर उसकी हिंसा क्यों नहीं होगी? (पृ. ४२-४३)**

सम्मूर्च्छिम मनुष्य की विराधना का कारण होती तो आगमकार कभी उसे एक मुहूर्त से अधिक समय तक रखकर उसके परिष्ठापन की आज्ञा नहीं देते, किन्तु श्री निशीथ सूत्र के तृतीय उद्देशक के अन्तिम सूत्र में आगमकारों ने स्पष्ट फरमाया है कि रात्रि या विकाल में मुनि को मल-मूत्र की बाधा हो जाए और वह किसी पात्र में मल-मूत्र का विसर्जन करके सूर्योदय के पूर्व ही उसका परिष्ठापन करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी है।

श्री निशीथ सूत्र में कहा गया है कि - 'जो भिक्षु रात्रि में अथवा विकाल में उच्चार-प्रस्रवण के वेग से बाधित होने पर अपने पात्र को लेकर या दूसरे मुनि से पात्र की याचना करके उच्चार-प्रस्रवण को करता है एवं उसे सूर्योदय के पूर्व परठता है या परठने वाले का अनुमोदन करता हैं। (वह लघुमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है)'[3]

इस सूत्र की चूर्णि में मात्रक (प्रस्रवण पात्र) में प्रस्रवण करने के अनेक कारण बताते हुए लिखा है -

'इन कारणों से मात्रक में त्याग कर सूर्योदय होने पर यतना से बाहर परठते हैं।'[4]

आगे भी लिखा है -

'इन दोषों (चोर के द्वारा पकड़ा जाना, सिंह आदि पशुओं द्वारा खाया जाना, विरोधियों द्वारा चोर, जार आदि का आरोप लगाया जाना इत्यादि) के कारण सूर्योदय के पूर्व नहीं परठना चाहिए।'[5]

(B-2) इतना ही नहीं प्रस्रवण (मूत्र) के भाजन में विसर्जन के एक मुहूर्त पश्चात् भी उस भाजन को रखे जाने एवं उसमें पुनः पुनः प्रस्रवण का विसर्जन करते रहने पर भी शास्त्रकारों ने विराधना का कारण नहीं माना है। श्री बृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देशक के सोलहवें सूत्र में साध्वियों को एक विशेष प्रकार का पात्र रखने की अनुज्ञा दी गई है, ताकि

१२. आत्मविराधना-प्रवचनविराधना से बचने हेतु, संयमविराधना होने पर भी, मात्रक में मूत्रादि स्थापित रखने का विधान है। (पृ. ४७ से ६९)

- **मूत्रादि शक्यतः रात को परठ देने हैं। तथाविध कारणसंयोगवश ही उन्हें पूरी रात स्थापित रखने का विधान है। (पृ. ४७)**
- **मात्रक में पूरी रात मूत्र स्थापित रखने का विधान जब कारणिक है तब 'उसमें कोई भी जीवविराधना नहीं होती' - वैसा कैसे कह सकते हैं? (पृ. ४७-४८)**
- **अनुद्गत सूर्य = सूर्य के किरण जहाँ न पहुँचे वैसा क्षेत्र - ऐसे अर्थघटन को स्वीकारती परंपरा भी प्राचीन है। (पृ. ५८)**

१३. बृहत्कल्पसूत्र द्वारा संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना सिद्ध । (पृ. ६२ से ६७)

(3) "जे भिक्खू राओ वा वियाले वा उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जमाणे सपादं गहाय परपायं वा जाइत्ता उच्चारपासवणं करेति, जो तं अणुग्गते सूरिए एडेति एडंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जति मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।"

- श्री निशीथ सूत्र, उद्देशक 3, अन्तिम सूत्र (मुनि श्री पुण्यविजय जी कृत प्रेसकॉपी)

किन्हीं मुद्रित प्रतियों में इस सूत्र के अन्तर्गत 'दिया वा' पाठ भी दिया गया है जो कि अशुद्ध है। इस पाठ की अशुद्धता के विस्तृत वर्णन हेतु परिशिष्ट देखें। *(देखें पृ. 22)*

टिप्पण : - दो-तीन अर्वाचीन हिन्दी-गुजराती व्याख्याकारों ने 'अणुग्गए सूरिए' का अर्थ 'जहां सूर्य का प्रकाश न पहुँचे' इस प्रकार किया है, किन्तु वह अर्थ सर्वथा असंगत एवं निराधार है। प्राचीन व्याख्याओं में ऐसा कोई अर्थ नहीं है।

(4) 'एतेहिं कारणेहिं मत्तए वोसिरिउं वाहिं जतणाए उदिते सूरिए पडि(रि)ट्ठवेंति।'

निशीथ चूर्णि, भाष्य गाथा 1548 (मुनि श्री पुण्यविजय जी कृत प्रेसकॉपी)

(5) 'जम्हा एते दोसा तम्हा न परिट्ठवेयव्वो समाहिमत्तओ अणुग्गते सूरिए'

- निशीथ चूर्णि, भाष्य गाथा 1553 (मुनि श्री पुण्यविजय जी कृत प्रेसकॉपी)

१४. आचारांग सूत्र का प्रस्तुत पाठ तो संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना सिद्ध करता है। (पृ. ६९ से ७४)

साध्वियों को रात्रि के समय बाहर न निकलना पड़े एवं वे उस पात्र में ही पुनः पुनः प्रस्रवण त्याग कर सकें। श्री बृहत्कल्प सूत्र में कहा गया है कि -

'निर्ग्रंथियां को अन्दर की ओर लेपयुक्त घटीमात्रक (छोटे घड़े के आकार का पात्र) रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।'[6]

इस सूत्र का सम्बन्ध व्यक्त करते हुए भाष्यकार कहते हैं - 'द्वार को दो पर्दों से ढक देने पर रात्रि में मात्रक (भाजन, प्रस्रवण पात्र)के बिना कायिकी (प्रस्रवण, मूत्र) के विसर्जन हेतु साध्वियों का पुनः पुनः निकलना, प्रवेश करना कष्टकर है, अतः घटीमात्रक के सूत्र का कथन किया जा रहा है।'[7]

रात्रि में पात्र में मूत्र विसर्जन हेतु इस प्रकार का प्रयत्न किया जाता था कि मूत्र विसर्जन का शब्द भी नहीं आए। एतत्संबंधी वर्णन करते हुए श्री बृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देशक के भाष्य व उसकी वृत्ति में बताया है कि 'प्रस्रवण पात्र पर शरावला (सिकोरा- मिट्टी का बर्तन) स्थापित करें। उसके तल में छिद्र करे। छिद्र में लम्बा वस्त्र डालकर साध्वियाँ मूत्र विसर्जन करें ताकि मूत्र विसर्जन की आवाज नहीं आए। *फिर* **दो प्रहर तक सोकर रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठकर उस मूत्रपात्र का परिष्ठापन करके स्वाध्याय काल देखकर स्वाध्याय की जाती है।**'[8]

इससे व्यक्त होता है कि मूत्र विसर्जन के एक मुहूर्त पश्चात् उस पात्र का स्पर्श एवं उसमें पुनः पुनः मूत्र विसर्जन जीव विराधना का कारण नहीं बनता।

(B-3) इस वास्तविकता का बोध श्री आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के पंचम उद्देशक के इस सूत्र से भी होता है, जिसमें बताया है कि अन्य सुगम मार्ग के होने पर साधु ऊँचे स्थानों, खाइयों इत्यादि के मार्ग से न जाए, क्योंकि विषम मार्ग से जाने पर साधु फिसल सकता है। फिसलने पर उसका शरीर वहाँ भूमि पर रहे मल-मूत्र, श्लेष्म, मवाद आदि से लिप्त हो सकता है। तदनन्तर बताया है कि कदाचित् उसका शरीर इस प्रकार से लिप्त हो जाए तो वह मुनि उसे सचित्त पत्थर आदि से साफ न करे, अपितु सचित्त रज से रहित तृण, पत्र, काष्ठ आदि की याचना करके एकान्त में मल-मूत्रादि लिप्त शरीर को पोंछ कर, घिसकर साफ करे एवं धूप आदि से सुखाए।

श्री आचारांग सूत्र में कहा गया है कि - 'वह भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के यहां आहारार्थ जाते समय यह जाने कि सीधे रास्ते के बीच में ऊँचे भू-भाग हैं या खेत की क्यारियाँ हैं या खाइयाँ हैं अथवा बाँस की टाटी है या कोट है, बाहर के द्वार (बन्द) हैं, आगल है, अर्गला-पाशक है तो उन्हें जानकर दूसरा मार्ग हो तो संयमी साधु उसी दूसरे मार्ग से जाए, सीधे मार्ग से न जाए, क्योंकि केवली भगवान कहते हैं - यह कर्मबन्ध का कारण है।

उस विषम मार्ग से जाते हुए भिक्षु (का पैर) फिसल जाएगा या (शरीर) डिग जाएगा अथवा गिर जाएगा। फिसलने, डिगने या गिरने पर उस भिक्षु का शरीर मल, मूत्र, कफ, श्लेष्म, वमन, पित्त, मवाद, शुक्र (वीर्य) और रक्त से

(6) 'कप्पइ निग्गंथीणं अंतो लित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा' - बृहत्कल्प सूत्र, उद्देशक 1, सूत्र 16 (सम्पादक-मुनि पुण्यविजय जी)

(7) 'ओहाडियचिलिमिलिए, दुक्खं बहुसो अईति निंति वि य। आरंभो घडिमत्ते.....' - बृहत्कल्प भाष्य गाथा 2362 (सं. मुनि पुण्यविजय जी)

(8) 'कुडमुहं डगलेसु व काउ मत्तगं इट्टगाइदुरूढाओ। लाल सरावं पलालं, व छोढु मोयं तु मा सद्दो॥2342॥
'कुटमुखं' घटकण्ठकं डगलेषु वा मात्रकं 'कृत्वा' स्थापयित्वा तस्य मात्रकस्योपरि 'शरावं' मल्लकं स्थाप्यते, तस्य च बुध्ने च्छिद्रं क्रियते, तत्र च्छिद्रे वस्त्रमयी 'लाला' लम्बमाना चीरिका पलालं वा प्रक्षिप्यते, 'मा मोकं व्युत्सृजन्तीनां शब्दो भवतु' इति कृत्वा। तत उभयपार्श्वत इष्टकाः क्रियन्ते, आदिशब्दात् पीठकादिपरिग्रहः, तत्रारूढाः सत्यो रात्रौ मात्रके मोकं व्युत्सृजन्ति॥2342॥
अथ स्वपनयतनामाह-सोऊण दोन्नि जामे, चरिमे ऊज्झेत्तु मोयमत्तं तु। कालपडिलेह झातो, ओहाडियचिलिमिती तम्मि॥2343॥
सुप्त्वा द्वौ 'यामौ' प्रहरौ चरमे यामे उत्थाय मोकमात्रकम् 'उज्झित्वा' परिष्ठाप्य ततः कालं-वैरात्रिकं प्राभातिकं च प्रत्युप्रेक्ष्य स्वाध्यायो यतनया क्रियते। - बृहत्कल्प भाष्य वृत्ति सहित, भाष्य गाथा 2342-2343, सम्पादक- मुनि पुण्यविजय जी

लिप्त हो सकता है। अगर कभी ऐसा हो जाए तो वह भिक्षु मल-मूत्र आदि से लिप्त शरीर को सचित्त पृथ्वी-स्निग्ध पृथ्वी से, सचित्त चिकनी मिट्टी से, सचित्त शिलाओं से, सचित्त पत्थर या ढेले से या घुन लगे हुए काष्ठ से, जीवयुक्त काष्ठ से एवं अण्डे, प्राणी, जालों आदि से युक्त काष्ठ आदि से अपने शरीर को न एक बार साफ करे और न अनेक बार घिसकर साफ करे। न एक बार रगड़े या घिसे और न बार-बार घिसे, उबटन आदि की तरह मले नहीं, न ही उबटन की भाँति लगाए। एक बार या अनेक बार धूप में सुखाए नहीं।

वह भिक्षु पहले सचित्त रज आदि से रहित तृण, पत्ता, काष्ठ, कंकर आदि की याचना करे। याचनापूर्वक उन्हें प्राप्त करके एकान्त स्थान में जाए। वहाँ अग्नि आदि के संयोग से जलकर जो भूमि अचित्त हो गयी है, उस भूमि का या अन्यत्र उसी प्रकार की भूमि का प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके यतनापूर्वक संयमी साधु स्वयमेव अपने (मल-मूत्रादि लिप्त) शरीर को पोंछे, मले, घिसे यावत् धूप में एक बार व बार बार सुखाए और शुद्ध करे।'[9]

२४ स्पष्ट है कि भूमि पर रहा मल-मूत्र तत्काल का ही हो यह जरूरी नहीं है। वह काफी समय पूर्व का भी हो सकता है तथापि आगमकारों ने उसे पोंछने, सुखाने में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की हिंसा का कोई उल्लेख नहीं किया है अपितु पोंछने, सुखाने का निर्देश दिया है। प्रसंगत: यह भी स्मर्तव्य है कि श्री दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्ययन की सातवीं गाथा में बताया है कि कभी साधु का शरीर वर्षा आदि के पानी से गीला हो जाए तो साधु अपने शरीर को न पोंछे, न मले और न स्पर्श ही करे।

श्री दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है :- 'किसी आवश्यक कार्य के लिए बाहर गये हुए मुनि का शरीर यदि कभी बरसात पड़ने से भीग जाये तो अप्काय के जीवों की रक्षा के लिए मुनि अपने शरीर को न तो वस्त्रादि से पोंछे और न अपने हाथों से देह को मले, किन्तु अपने शरीर को जल से भीगा हुआ देख कर साधु अपने शरीर का संघट्टा-स्पर्श भी न करे।'[10]

२५ जैसे सचित्त जल का स्पर्श करने, उसे पोंछने में जीव हिंसा होती है, वैसे ही मूत्र को पोंछने, स्पर्श करने से सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की हिंसा होती तो शास्त्रकार उसके पोंछने आदि का विधान कैसे कर सकते थे? इससे भी सुस्पष्ट है कि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की कायिक विराधना नहीं होती, ऐसा ही आगमकारों का स्पष्ट अभिमत है।

(B-4) इसी दृष्टिकोण से श्री निशीथ सूत्र की भाष्य चूर्णि में कहा है - 'मुनि वर्षाकाल में उच्चार प्रस्रवण के लिए तीन-तीन पात्र ग्रहण करें। इसका कारण यह है कि वर्षा के होने पर अप्काय के संयम हेतु एक मात्रक के भर जाने पर दूसरा, फिर तीसरा-इस प्रकार उपयोग करते हैं।'[11]

२६ इस पाठ से भी संयमार्थ प्रस्रवण आदि को रखने का

(9) 'से भिक्खू वा [भिक्खुणी वा] जाव समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा, सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

केवली बूया - आयाणमेतं। से तत्थ परक्कममाणे पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा तत्थ से काए उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणएण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा उवलित्ते सिया। तहप्पगारं कायं णो अणंतरहियाए पुढवीए, णो ससणिद्धाए पुढवीए, णो समरक्खाए पुढवीए, णो चित्तमंताए सिलाए, णो चित्तमंताए लेलूए, कोलावासंसि वा दारुए जीवपतिट्ठिते सअंडे सपाणे जाव मंताणए णो (?) आमज्जेज्ज वा, णो (?) पमज्जेज्ज वा, संलिहेज्ज वा, णिल्लिहेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा आतावेज्ज वा पयावेज्ज वा।

से पुव्वामेव अप्पससरक्खं तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाएज्जा, जाइत्ता से त्तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, 2 [त्ता] अहे झामथंडिल्लंसि वा जाव अण्णतरंसि वा तहप्पगारंसि पडिलेहिय 2 पमज्जिय 2 ततो संजयामेव आमज्जेज्ज वा जाव पयावेज्ज वा।

-श्री आचारांग सूत्र, श्रुतस्कन्ध 2, अध्ययन 1, उद्देशक 5, (सूत्र 353), संपादक- मुनि जम्बूविजय जी।

(10) 'उदओल्लं अप्पाणं कायं, नेव पुंछे न संलिहे। समुप्पेह तहाभूयं, नो णं संघट्टए मुणी॥' - श्री दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन- 7, गाथा- 7

(11) 'उच्चारपासवणखेलमत्तए तिण्णि तिण्णि गेण्हंति। संजमआएमट्ठा, भिज्जेज्ज व मेस उज्झंति॥

वरिसाकाले उच्चारमत्तया तिण्णि, पासवणमत्तया तिण्णि, तिण्णि खेलमत्तया। एवं णव घेत्तव्वा।

इमं कारणं- जं संजमनिमित्तं वरिसते एगम्मि वाहडिते बितिय ततिएसु कज्जं करेंति।'

- निशीथ चूर्णि, भाष्य गाथा, 3172 (संपादक- उपा. अमर मुनि व मुनि कन्हैयालाल जी) तथा अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग-5, पृष्ठ-247

१५. अशुचि मनुष्य की ही हो वैसी शक्यता अल्प है। (पृ.७०)
- मनुष्यसंबंधी हो तो भी शासनमालिन्यादि की रक्षार्थ पोंछना आवश्यक। (पृ. ७१)
- अशुचि से खरंटित पैर को साफ करने की बात संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना की अल्पता के लिए। (पृ.७२)

१६. सचित्त रज का अवलेखन शास्त्रनिर्दिष्ट ही है। (पृ.७२-७३)

१७. संमूर्च्छिम मनुष्य + अप्काय की विराधना से बचने के लिए ही बारिश में परिष्ठापन का निषेध। (पृ. ७४)
- श्लेष्म मल्लक में भस्मभरण की बात + तीन-तीन श्लेष्म मल्लक रखने की बात से संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना की शक्यता सिद्ध। (पृ.७४ से ७७)

विधान होता है एवं उससे सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना नहीं होती, ऐसा स्पष्ट होता है।

(B-5) सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना हमारी काया से होना संभव नहीं है, यह तथ्य विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ में आगत उल्लेख से भी स्पष्ट है। किसी मुनि के कालगत हो जाने पर तत्रस्थ मुनियों को क्या-क्या करना चाहिए? इस प्रसंग से वहाँ बताया गया है कि -

'मुनि मूत्र को नहीं परठ कर मूत्र युक्त पात्र को पास में रखते हैं। यदि शव उठे, अट्टहास करने लगे तो पात्र से मूत्र को बाँयें हाथ में लेकर उस शव पर छिड़कते हैं।'[12]

१८ इसमें मूत्र युक्त पात्र को पास में रखने का कहा है। स्पष्ट है कि मूत्र युक्त पात्र को एक मुहूर्त से भी ज्यादा समय तक रखने की प्राचीन परम्परा थी। १९

(B-6) जीव रक्षा के संदर्भ में ओघनिर्युक्ति में कहा गया है कि - 'यदि किसी मुनि के पेट में कीड़े पड़ जाएँ एवं मल में कीड़े निकले तो उसके लिए विधान है कि वह मुनि छाया वाले स्थान में मल का विसर्जन करें। कदाचित् छाया न मिले तो मल विसर्जन के पश्चात् एक मुहूर्त तक (मल को छाया देता हुआ) खड़ा रहे। वे कृमि (कीड़े) उतनी देर में स्वत: ही कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं।'[13]

२० यदि कृमियों की तरह ही सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की कायिक विराधना संभव होती तो उनकी रक्षा के लिए भी कोई उल्लेख होता, किन्तु चूँकि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की कायिक विराधना संभव ही नहीं है, अत: उनकी रक्षा के लिए कोई वैसा उल्लेख नहीं किया गया।

(B-7) हमारी काया के द्वारा सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना संभव नहीं है, यह अन्य भी अनेक उल्लेखों से स्पष्ट होता है। श्री व्यवहार सूत्र, उद्देशक 7 की भाष्य गाथाओं (3204-3207) में बताया है कि -

'किसी मुनि के शरीर में घाव हो जाए, उसमें से रक्त, पीव आदि बहने लगे तो उसे धोकर एक वस्त्र पर क्षार पदार्थ डाले तथा उसे व्रण के स्थान पर लगाकर उसके ऊपर एक वस्त्र लगाकर उसे बाँध देवे। यदि उसमें से भी रक्त, पीव आदि निकले तो उस पर क्षार डालकर उसके ऊपर दूसरा वस्त्र बाँधें, उससे भी रक्त, पीव आदि बहने लगे तो तीसरा वस्त्र बाँधे। जैसे व्रण, घाव में तीन वस्त्रों का विधान है, उसी प्रकार साध्वी के ऋतुधर्म के समय रक्त प्रवाह का प्रसंग हो तो एक-एक करके सात वस्त्रों को बाँधा जा सकता है। जब-जब वस्त्र पर रक्त बहकर आ जाए तो अन्य वस्त्र बाँध दें। वस्त्र बन्धन के पश्चात् यदि रक्तादि न दिखे तो वाचना दी जा सकती है एवं रक्तादि दिखने लगे तो वाचना नहीं दी जा सकती।

'घाव में तीन वस्त्रों के बाद भी एवं ऋतु धर्म में सात वस्त्रों के बाद भी यदि रक्त आदि दिखने लगे तो सौ हाथ से अधिक दूर जाकर, धोकर पुन: वस्त्र प्रयोगपूर्वक वाचना दी जा सकती है।'[14] इसी आशय के भाव श्री निशीथ सूत्र की सभाष्यचूर्णि में बताए हैं।[15]

२१ उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि रक्त आदि पर क्षार पदार्थ डालने तथा उस पर वस्त्र बाँधना आदि करने पर भी उसमें रहे सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की हिंसा नहीं होती।

उपर्युक्त प्रमाण युक्त प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि शरीर के भीतर विद्यमान मल-मूत्र आदि में भी सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति उसी प्रकार संभव है, जैसे कि

(12) "काइयमत्तयमपरिट्ठवियं पासे ठवियं। जइ उट्ठेइ अट्टहासं वा पुंचइ तो मत्ताओ काइयं वामहत्थेण गहाय 'मा उट्ठे, बुज्झ बुज्झ गुज्झगा, मा मुज्झ' इइ भणंतेहिं सिंचेयव्वं।" - विधिमार्गप्रपा, महापारिट्ठावणियाविही, पृष्ठ 78, संपादक- मुनि जिनविजय जी

(13) 'संसत्तगहणी पुण छायाए निग्गयाण वोसिरइ। छायासइ उण्हंमिवि वोसिरिअ मुहूत्तयं चिट्ठे॥'
'संसक्तग्रहणि:' कृमिसंसक्तोदर इत्यर्थ: यद्यसौ साधुर्भवेत् ततो वृक्षच्छायायां निर्गतायां व्युत्सृजति, अथ छाया न भवति ततश्च व्युत्सृज्य मुहूर्त्तमात्रं तिष्ठेद् येन ते कृमय: स्वयमेव परिणमन्ति। - ओघनिर्युक्ति वृत्ति सहित, गाथा- 527

(14) 'धोयम्मि य निप्पाले, बंधा तिन्नेव होंति उक्कोसा। परिगलमाणे जयणा दुविहम्मी होइ कायव्वा॥3204॥
समणो उ वणे व भगंदले व बंधेक्कका उ वाएति। तह वि गलंते छारं, वोदु दो तिन्नि बंधा उ॥3205॥
जाहे तिन्नि विभिन्ना, ताहे हत्थसयबाहिरा धोउं। बंधेउ पुणो वि वाए, गंतुं अन्नत्थ व पढंति॥3206॥
एमेव य समणीणं, वणम्मि इयरम्मि सत्त बंधाउ। तहवि य अठायमाणो धोऊणं अहव अन्नत्थ॥3207॥'
- व्यवहार भाष्य, गाथा 3204-3207, (संपादक- आचार्य मुनिचन्द्रसूरि जी)

१८. अनन्यगत्या मात्रक में मूत्र रखने का विधान। (पृ. ८२)
१९. प्राचीन परंपरा मृतदेह का शीघ्रमेव परिष्ठापन का विधान करती है, कि जो संमूर्च्छिम मनुष्य की कायिक विराधना से बचने का उपदेश देती है। (पृ.८१)
२०. तथा संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधना से बचने हेतु कृमि न हो तो उच्चारादि को ताप में परठने की बात निशीथचूर्णि में दर्शाई ही है। (पृ.८८)
२१. घाव वगैरह पर तुरंत क्षार डालने की बात आती है। संमूर्च्छिम मनुष्य तुरंत तो उत्पन्न नहीं होते, मुहूर्त्त के बाद उत्पन्न होते हैं। (पृ. ९१)

शरीर के बाहर।[२२] श्री व्यवहार सूत्र उद्देशक 9 में मोक प्रतिमाओं (विशेष प्रकार का तप) का वर्णन किया गया है, जिनमें बताया है कि 'मोकप्रतिमाधारी मुनि सात-आठ दिनों तक स्वयं के मोक का पान करता है।'[16] यदि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की कायिक विराधना संभव होती तो तीर्थंकर भगवान कभी मोकपान का विधान नहीं करते। उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त भी विभिन्न ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक वर्णन प्राप्त है जिनसे स्पष्ट है कि **'सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की कायिक विराधना कदापि संभव नहीं है।'**

[२३][C] तीर्थंकर देवों की निर्ग्रन्थ परम्परा में आलोचना, प्रायश्चित्त का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रायश्चित्त से दोषों की विशुद्धि होती है। विभिन्न दोषों के लिए शास्त्रों एवं अन्य ग्रन्थों में प्रायश्चित्त का विस्तृत उल्लेख प्राप्त है। उनमें पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पशु आदि की हिंसा संबंधी प्रायश्चित्तों का उल्लेख है, किन्तु सम्मूर्च्छिम मनुष्य की हिंसा के प्रायश्चित्त का वर्णन ज्ञात नहीं होता है। सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की कायिक विराधना को जब से (कुछेक दशकों से) माना जाने लगा है, तब से बाद के सामाचारी सम्बन्धी फुटकर पत्रों में ही इसके प्रायश्चित्त सम्बन्धी कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं।

आगम, प्राचीन भाष्य चूर्णि, टीकादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्य के प्रायश्चित्त संबंधी कोई वर्णन नहीं मिलता है। आगमादि के उन विस्तृत प्रायश्चित्त सूत्रों का उल्लेख न करते हुए इतना कहना प्रासंगिक है कि श्री निशीथ सूत्र आदि के ज्ञाता मुनिराज इस तथ्य का भली-भाँति अनुभव करते हैं कि उन सूत्रों में पृथ्वीकाय आदि की हिंसा के विभिन्न प्रकारों एवं प्रायश्चित्तों का उल्लेख है, लेकिन सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना का प्रायश्चित्त पाठ कहीं उल्लिखित नहीं है, जब कि उच्चार-प्रस्रवण आदि का परिष्ठापन मुनि की दिनचर्या से जुड़ा एक आवश्यक अंग है। यह भी इस तथ्य का प्रबल संसूचक है कि **'सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की कायिक विराधना संभव नहीं हैं।'**

उपर्युक्त सविस्तर विवेचन के अनुसार आगमों के आधार

(15) 'धोतम्मि य निप्पगले, बंधा तिण्णेव होंति उक्कोसा। परिगलमाणे जयणा, दुविहम्मि य होति कायव्वा ॥6167॥
पढमं चिय वणो हत्थसयस्स बाहिरतो धोविउं णिप्पगलो कतो ततो परिगलंते तिण्णि बंधा उक्कोसेण करेंतो वाएति।
दुविहं व्रणसंभव उउयं च, दुविहे वि एवं पट्टगजयणा कायव्वा ॥6167॥
समणो उ वणे व भगंदले व बंधेक्कका उ वाएति। तह वि गलंते छारं, दाउं दो तिण्णि वा बंधे ॥6168॥
व्रणे धोयणिप्पगले हत्थसयबाहिरतो पट्टगं दाउं वाएइ, परिगलमाणेण भिण्णे तम्मि पट्टगे तस्सेव उवरिं छारं दाउं, पुणो पट्टगं देति वातेति य, एवं ततियं पि पट्टगं बंधेज्जा वायणं च देज्ज, ततो परं परिगलमाणे हत्थसयबाहिरं गंतुं व्रणपट्टगे य धोविउं पुणो एतेणेव क्रमेण वाएति। अहवा-अण्णत्थ गंतु पढंति ॥6168॥
एमेव य समणीणं, वणम्मि इतरम्मि सत्तबंधा उ। तह वि य अठायमाणे, धोऊणं अहव अण्णत्थ ॥6169॥
इयरीति उदुअं एवं चेव, णवरं- सत्तबंधा उक्कोसेण कायव्वा, तह वि अट्ठंते हत्थसयबाहिरतो धोविउं पुणो वाएति, अहवा- अण्णत्थ पढंति'
-निशीथ चूर्णि, भाष्यगाथा 6167-6169, संपादक- उपाध्याय अमर मुनि जी व मुनि कन्हैयालाल जी

(16) 'दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-1. खुड्डिया वा मोयपडिमा, 2. महल्लिया वा मोयपडिमा। खुड्डियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढमनिदाहकालसमयंसि वा चरिमनिदाहकालसमयंसि वा, बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा भोच्चा आरुभइ चोद्दसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ, सोलसमेणं पारेइ। जाए जाए मोए आगच्छइ, ताए-ताए आईयव्वे। दिया आगच्छइ आईयव्वे, रत्तिं आगच्छइ नो आईयव्वे। सपाणे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अप्पाणे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे। सबीए मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अबीए मत्ते आगच्छइ आईयव्वे। ससणिद्धे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, असणिद्धे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे। ससरक्खे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, असरक्खे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे। जावइए जावइए मोए आगच्छइ तावइए तावइए सव्वे आईयव्वे, तं जहा-अप्पे वा, बहुए वा। एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ॥41॥
महल्लियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढमनिदाहकालसमयंसि वा, चरमनिदाहकालसमयंसि वा, बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा, भोच्चा आरुभइ, सोलसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ, अट्ठारसमेणं पारेइ। जाए जाए मोए आगच्छइ, ताए ताए आईयव्वे। दिया आगच्छइ आईयव्वे, रत्तिं आगच्छइ नो आईयव्वे, जाव एवं खलु एसा महल्लिया मोयपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ॥42॥
-श्री व्यवहार सूत्र, उद्देशक 9, सूत्र 41-42, (संपादक- आ. मुनिचन्द्र सूरि जी)

२२. मोकआचमन तुरंत करना होता है। जीवोत्पत्ति कालांतर में होती है। (पृ. ९६)

२३. छेदसूत्र में निर्दिष्ट संमूर्च्छिम मनुष्य की विराधनाप्रत्ययिक प्रायश्चित्त के लिए देखिए पृ. ९९ से १०३।

से यह सुसिद्ध है कि सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की काया से विराधना नहीं हो सकती एवं विराधना ही न होने से तदर्थ प्रायश्चित्त का प्रसंग ही नहीं रहता।

आप और हम सभी तीर्थंकर देवों के पुनीत पावन आगमोपदेशों के प्रति अनन्य आस्थाशील हैं। आगमिक वचन एवं उनसे अविरुद्ध पूर्वाचार्यप्रणीतग्रन्थवचन हमारे लिए प्रमाणभूत हैं एवं सैद्धान्तिकस्पष्टत्व के अनवबोध से संशयकोलाहलाकुलचित्तालय में सत्समाधान को प्रविष्टि देकर शान्तनीरवसमाधिस्थता को सुप्रसारित करने वाले हैं। इस सुदीर्घ शासन परम्परा में ज्ञेयाज्ञेयहेतुवशात् क्वचित् कदाचित् आगमाननुमोदित वैयक्तिकविचारसंपुष्ट सैद्धान्तिक अवधारणाओं की निर्मिति एवं उनकी अविचारित गतानुगति को आश्चर्य अपना विषय क्यों बनाए ?

अल्पमति से उक्त विषय में आगम वाक्यों एवं पूर्व सूरिवचनों के आधार पर जो तथ्य अवगत हुए, उन्हें शान्त, निर्णायक एवं सहज भावों से उपेत होकर आपके समक्ष प्रस्तुत करना महत्त्वपूर्ण समझकर निवेद्य का अक्षराकार प्रस्तुत किया गया है। इस विश्वास के साथ कि आपकी प्रियागमता एवं सत्यांगीकारवृत्तिकता आगमों के मौलिक आशय को, चाहे वह कुछेक दशाब्दियों या शताब्दियों की प्रचलित अवधारणा से भिन्न भी क्यों न हो, सुविचारपूर्वक अवश्य आत्मसात् करेगी।

परिशिष्ट[२४]

श्री निशीथ सूत्र, तृतीय उद्देशक के अन्तिम सूत्र के मूलपाठ सम्बन्धी स्पष्टीकरण :-

यहाँ लेख में श्री निशीथ सूत्र के तृतीय उद्देशक के अंतिम सूत्र का जो मूलपाठ उद्धृत किया है, वह प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों तथा आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी म. सा. द्वारा तैयार की गई प्रेसकॉपी के आधार से लिया है, वह पाठ इस प्रकार है :-

"जे भिक्खू राओ वा वियाले वा उच्चारपासवणेणं उब्बाहिज्जमाणे सपादं गहाय परपायं वा जाइत्ता उच्चार-पासवणं करेति, जो तं अणुग्गते सूरिए एडेति एडंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जति मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।"

श्री निशीथ सूत्र के कतिपय मुद्रित संस्करणों में तृतीय उद्देशक के अन्तिम सूत्र का जो मूलपाठ दिया गया है, वह अत्यन्त ही विचारणीय है। वह मूलपाठ इस प्रकार है :-

"जे भिक्खू सपायंसि वा परपायंसि वा दिया वा राओ वा वियाले वा उच्चार-पासवणेणं उब्बाहिज्जमाणे सपायं गहाय, परपायं वा जाइत्ता उच्चार-पासवणं परिट्ठवेत्ता अणुग्गए सूरिए एडेइ, एडंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।"

श्री निशीथ सूत्र की जिन ताड़पत्रीय प्रतियों के आधार से पाठ लिया है, उनका विवरण इस प्रकार है :-

क्रमांक	*भण्डार का नाम*	*क्रमांक*	*ताड़पत्रीय/कागज*
1.	पाटण-संघवीपाड़ा का भंडार	पातासंपा	ताड़पत्रीय
2.	पूना-भांडारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट	भांता-18	ताड़पत्रीय
3.	पाटण-हेमचंद्राचार्य जैन ज्ञान भंडार (संघ नो भंडार)	पाताहेसं-13	ताड़पत्रीय

बहुत से मुद्रित संस्करणों में सूत्र का प्रारंभ इस प्रकार किया गया है :-

'जे भिक्खू सपायंसि वा परपायंसि वा दिया वा राओ वा वियाले वा....'

यहाँ जो पाठ ताड़पत्रीय प्रतियों व श्री पुण्यविजय जी कृत प्रेसकॉपी से लिया है, वह इस प्रकार है :-

'जे भिक्खू राओ वा वियाले वा .....'

२४. परिशिष्ट की निरर्थकता के लिए देखिए पृ.४७ से ५३।

मुद्रित संस्करणों के पाठ में '**सपायंसि वा परपायंसि वा दिया वा**' इतना पाठ अतिरिक्त है, जो कि ताड़पत्रीय हस्तप्रतों में नहीं है।

ध्यातव्य है कि किन्हीं अर्वाचीन अनुवादकों/विवेचकों ने '**अणुग्गए सूरिए**' का अर्थ '**सूर्योदय से पूर्व**' ऐसा न करके '**जहाँ सूर्य का आतप नहीं पहुँचता हो ऐसे स्थान पर**' - इस प्रकार का अशुद्ध अर्थ किया है और उसे सिद्ध करने के लिए '**दिया वा**' पाठ को प्रमाण-रूप में प्रस्तुत किया है, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि प्राचीन ताड़पत्रीय हस्तलिखित प्रतियों में '**दिया वा**' सूत्र पाठ ही नहीं है।

'**दिया वा**' के नहीं होने की प्रबल पुष्टि निशीथ चूर्णि से भी होती है। निशीथ चूर्णि में आगत सूत्र के प्रतीक से यह स्पष्ट है कि सूत्र में '**दिया वा**' नहीं है। निशीथ चूर्णि का पाठ इस प्रकार है :-

"...**अन्नो वोसिरति। अहवा पउरदवेण कुरुकुयं करेति।**

'**जे भिक्खू रातो वा**' **इत्यादि।**

राओ त्ति संझा, विगालो त्ति संझावगमो।"

यहाँ सूत्र प्रतीक में स्पष्टत: '**जे भिक्खू रातो वा**' इत्यादि लिखा गया है तथा चूर्णिकार ने रात्रि और विकाल इन शब्दों की व्याख्या की है। इससे सुसिद्ध है कि मूलसूत्र में '**दिया वा**' नहीं है।

यहाँ उद्धृत चूर्णिपाठ मुद्रित संस्करण से उद्धृत नहीं किया गया है। मुद्रित संस्करण (संपादक-उपाध्याय अमरमुनि एवं मुनि कन्हैयालाल 'कमल', प्रकाशक-सन्मति ज्ञानपीठ-आगरा) में तो सूत्रों के प्रतीक ही नहीं दिये गये हैं। यहाँ उद्धृत चूर्णिपाठ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से तथा श्री पुण्यविजय जी कृत प्रेसकॉपी से मिलान करके लिखा है।

निशीथ चूर्णि की दो हस्तलिखित प्रतियों का आधार लिया है, उनका विवरण इस प्रकार है :-

क्रमांक	*भण्डार का नाम*	*क्रमांक*	*ताड़पत्रीय/कागज*
1.	पुणे-भांडारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट	भांता-19	ताड़पत्रीय
2.	पाटण-हेमचन्द्राचार्य ज्ञान भंडार	पाकाहेम-10053	कागज

★★★

लेखक द्वारा रचित-संपादित-अनुवादित साहित्य सूचि

नं.	पुस्तक का नाम	भाषा/विषय	किंमत ₹
१.	न्यायालोक	संस्कृत+गुजराती	१७०/-
२.	भाषारहस्य	संस्कृत+गुजराती	१६०/-
३.	स्याद्वाद रहस्य (भाग १ से ३)	संस्कृत+हिन्दी	४३५/-
४.	वादमाला	संस्कृत+हिन्दी	१२०/-
५.	षोडशक (भाग १-२)	संस्कृत+हिन्दी	२००/-
६.	अध्यात्मोपनिषत् (भाग १-२)	संस्कृत+गुजराती	१९०/-
७.	द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (भाग १ से ८)	संस्कृत+गुजराती	२०००/-
८.	FRAGRANCE OF SENTIMENTS	ENGLISH	25/-
९.	GLIMPSES OF SENTIMENTS	ENGLISH	30/-
१०.	ABUNDANT JOY OF SENTIMENTS	ENGLISH	25/-
११.	WHAT IS SUPERIOR ? INTELLECT OR FAITH ?	ENGLISH	10/-
१२.	LUST GETS DEFEATED, DEVOTION WINS...	ENGLISH	10/-
१३.	WHAT IS SUPERIOR ? SADHANA OR UPASANA ?	ENGLISH	10/-
१४.	द्विवर्ण रत्नमालिका	संस्कृत+गुजराती	अमूल्य
१५.	वासना हारे, उपासना जीते	गुजराती	अमूल्य
१६.	बुद्धि हारे, श्रद्धा जीते	गुजराती	अमूल्य
१७.	साधना चढे के उपासना ?	गुजराती	अमूल्य
१८.	संवेदननी सुवास	परमात्मभक्ति/गुजराती	अमूल्य
१९.	संवेदननी झलक	परमात्मभक्ति/गुजराती	अमूल्य
२०.	संवेदननी मस्ती	परमात्मभक्ति/गुजराती	अमूल्य
२१.	संवेदननी सरगम	परमात्मभक्ति/गुजराती	अमूल्य
२२.	संयमीना कानमां	साधु-साध्वीजी भगवंतो के लिए	अमूल्य
२३.	संयमीना दिलमां	साधु-साध्वीजी भगवंतो के लिए	अमूल्य
२४.	संयमीना रोमरोममां	साधु-साध्वीजी भगवंतो के लिए	अमूल्य
२५.	संयमीना सपनामां	साधु-साध्वीजी भगवंतो के लिए	अमूल्य
२६.	संयमीना व्यवहारमां	साधु-साध्वीजी भगवंतो के लिए	अमूल्य
२७.	विद्युतप्रकाशनी सजीवता अंगे विचारणा	गुजराती	१०/-

२८.	विद्युतप्रकाश : सजीव या निर्जीव?	हिन्दी	१०/-
२९.	यशोविजय छत्रीशी	अभिनव प्रभुस्तुति	अमूल्य
३०.	प्रभु वीर की अंतिम देशना	उत्तराध्ययनसूत्र सूक्ति चयन	नि:शुल्क
३१.	संवेदन की सुवास	प्रभु भक्ति	
३२.	संवेदन की मस्ती	प्रभु भक्ति	
३३.	संवेदन की झलक	प्रभु भक्ति	
३४.	संवेदन की सरगम	प्रभु भक्ति एवं अध्यात्मसाधना	१००/-
३५.	श्रावक दिनचर्या	गुजराती	अमूल्य
३६.	द्रव्य-गुण-पर्यायनो रास + द्रव्यानुयोगपरामर्श (भाग १ से ७)	संस्कृत + गुजराती	५०००/-
३७.	द्रव्य-गुण-पर्यायनो रास + अध्यात्मअनुयोग (भाग १-२)	संस्कृत + गुजराती	१०००/-
३८.	द्रव्य-गुण-पर्याय का रास + द्रव्यानुयोगपरामर्श (भाग १ से ७)	संस्कृत + हिन्दी	५०००/-
३९.	द्रव्य-गुण-पर्यायनो रास + अध्यात्मअनुयोग (भाग १-२)	संस्कृत + हिन्दी	१०००/-
४०.	पोलिसी	गुजराती	७०/-
४१.	पोलिसी	हिन्दी	१००/-
४२.	POLICY	ENGLISH	100/-
४३.	जवांमर्दी (भाग १-२)	गुजराती	२००/-
४४.	BATTLE OF THOUGHTS	ENGLISH	125/-
४५.	अध्यात्मोपनिषत् (भाग १-२)	संस्कृत + हिन्दी	५००/-
४६.	पोलिसी डाइजेस्ट	गुजराती	१०/-
४७.	संमूर्च्छिम मनुष्य : आगमिक अने पारंपरिक सत्य	गुजराती	५०/-
४८.	संमूर्च्छिम मनुष्य : आगमिक और पारंपरिक सत्य	हिन्दी	५०/-

नोंध : अध्ययनशील पू. साधू-साध्वीजी भगवंतो और ज्ञानभंडार को भेट रूप में मिलेगी।

प्राप्ति स्थान : दिव्य दर्शन ट्रस्ट,

३९, कलिकुंड सोसायटी, धोलका, जि. अहमदाबाद - ३८७८१०.

कृतज्ञता भरी स्मृति

इस समस्त निबंधलेखन के दौरान जब जब जिन शास्त्रपाठों की आवश्यकता महसूस हुई तब तब वे शास्त्रपाठ एवं अन्य शास्त्रपाठ, सामने चल कर मानो अपनी हाज़री की पूर्ति के लिए आते हो, उतनी सरलता से संप्राप्त हुए हैं। अन्यथा मेरे जैसे अल्पज्ञ द्वारा यह सृजन शक्य ही न बनता। उस अदृश्य शक्ति को – चाहे उसे कृपा कहो या कुदरत – मेरे लाखों सलाम...

:: आर्थिक सौजन्य ::

श्री प्लोट श्वे. मू. जैन तपगच्छ संघ

राजकोट

ज्ञाननिधि में से

खूब खूब अनुमोदना...

सूरिप्रेम स्वर्गारोहण
अर्धशताब्दी त्यागब्रह्म वर्ष

Book-Packet containing printed book posted under clause 114 (7) and 121 (D)
P. & T. guide hence can not be taxed more than one rupee per 100 gms.

To,

प्रेषक :
श्री दिव्यदर्शन ट्रस्ट
३९, कलिकुंड सोसायटी, मफलीपुर चार रस्ता के
धोलका, जि. अहमदाबाद – ३८७८१०.
फोन : (०२८७१४) २२५४८१, २२५७३८, २२५९८९